मनुष्यता के आठ सूत्र

(सही अर्थों में मानव कैसे कहलाएँ?)

८९·४
४४म

आचार्य भगवान्देव 'चैतन्य'

॥ ओ३म् ॥

मनुष्यता के आठ सूत्र

आचार्य भगवान्देव 'चैतन्य'

फोन : २४०[illegible]
रत्न पुस्तक भण्डार
"ग्रीन हाउस"
२७१, माइतिघर
काठमाडौं, नेपाल

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110006, भारत
दूरभाष : 55360255, 23977216
Email : ajayarya@vsnl.com
Web : www.vedicbooks.com

संस्करण : 2004

मूल्य : 15.00

शब्द-संयोजन : **वैदिक प्रेस**, कैलाशनगर, दिल्ली-31

मुद्रक : **स्वीडोग्राफिक्स**, दिल्ली

9C9.8
आ 88 भी

दो शब्द

प्रत्येक जीव को उसके कर्मों के आधार पर परमात्मा दण्डित या पुरस्कृत किया करता है । इसी क्रम में मानव योनि सब से बड़ा पुरस्कार है क्योंकि इस योनि को कर्मयोनि कहा है । शेष समस्त जितनी भी योनियां हैं वे केवल भोगयोनियां हैं । इस प्रकार यदि हम देखें तो मानवयोनि व्यक्ति की चतुर्दिक् उन्नति का आधार तो है ही मगर साथ ही इस योनि में आकर ही वह अपने लिए पुण्य कर्मों का संचय करके भौतिक तथा आध्यात्मिक समृद्धियों से पूर्णतया समृद्ध हो सकता है । क्योंकि जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए अपने भीतर दिव्य गुणों का सृजन करने की आवश्यकता है ।

हमारे मनीषियों के अनुसार खाना-पीना, नींद लेना, अपने से बलवान् से डरना और अपने से निर्बल

को डराना तथा सन्तानादि पैदा करना ये सब कृत्य तो मनुष्य और पशुओं में एक समान ही हैं मगर एक धर्म ही है जो मानव को पशुओं से अलग श्रेणी में विभाजित करता है तथा यदि व्यक्ति धर्म के कृत्य नहीं करता है तो मानो वह भी पशु के समान ही है।

यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का दुर्भाग्य ही है कि आज कुछ स्वार्थी लोगों ने अलग-अलग मत-मज़हब तथा सम्प्रदाय स्थापित करके मानवता को दूषित करने का घोर पाप किया है । धर्म केवल बाहरी चिह्नों आदि को धारण करने तक ही सीमित रह गया है, गुणवत्ता गौण हो गई है । गुणवत्ता के अभाव में धर्म के नाम पर समूची मानवता ही खण्डित हो गई है तथा धर्म के नाम पर अनेक अनाचार व अत्याचार हो रहे हैं । मानव जीवन पशुओं से भी अधिक निकृष्ट हो गया है । व्यक्ति का खान-पान तथा आचार-व्यवहार सभी कुछ बदल गया है ।

जिस धर्म को सुख का आधार कहा गया है

वही आज दुःख का कारण बन गया है । इस स्थिति को बदलने के लिए धर्म के सही स्वरूप को जीवन में अंगीकार करना होगा । मनु महाराज कहते हैं–**न लिङ्गम् धर्मकारणम्** । अर्थात् मात्र बाहर के चिह्न व परिधान आदि धारण कर लेना धर्म नहीं है बल्कि धर्म तो मानवीय गुणों में निहित है । यदि व्यक्ति अपने भीतर मानवीय गुणों को धारण कर ले तो वह वास्तविक अर्थों में धार्मिक बन सकता है तथा इस उक्ति को चरितार्थ करने में समर्थ हो सकता है कि धर्म वास्तव में ही सुख का आधार है । मानवयोनि मिलना अपने पूर्व कर्मों पर आधारित है मगर इसे सार्थकता प्रदान करने के लिए व्यक्ति को धीरे-धीरे अपने भीतर मानवीय गुणों का आधान करना होगा ।

इस लघु पुस्तिका में हमने महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा बताए गए कुछ ऐसे ही सूत्रों की चर्चा की है जिन्हें जीवन में कार्यान्वित करने से व्यक्ति सही अर्थों में मानव कहलाने के योग्य बन सकेगा तथा मानव जीवन के समस्त लक्ष्यों को भी

प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा ।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द आर्यजगत् का सुप्रसिद्ध प्रकाशन है तथा प्रिय अजयकुमार आर्य वर्तमान में इस का संचालन कर रहे हैं । उन्होंने पुस्तिका को प्रकाशित करने में सहयोग दिया एतदर्थ उनका आभार व्यक्त करता हूं ।

विदुषामनुचरः,

आचार्य भगवान्देव 'चैतन्य'

८१/एस-४ सुन्दरनगर कालोनी,

जिला मण्डी (हि०प्र०)

मनुष्यत्व

दूसरी दुर्लभ वस्तु मनुष्यता बताई गई है । भले ही व्यक्ति को मनुष्य का शरीर मिल जाए मगर यदि उस में मनुष्यता नहीं है तो उसे मानव शरीर मिला न मिला एक ही बात है । बल्कि यदि व्यक्ति में मानवीय गुणों का अभाव है तो वह मनुष्य जन्म पाकर भी ऐसे दूषित कर्म करेगा जिन का फल उसे निम्न योनियों में जाकर दुःख और कष्ट के रूप में भोगना पड़ेगा । इसलिए मानव शरीर मिल जाना भले ही बहुत बड़ी बात सही मगर उस से बड़ी बात है अपने भीतर मानवीय गुणों का विस्तार करके जीवन को सफलता प्रदान करना । महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का लक्ष्य व्यक्ति को किसी सम्प्रदाय या मजहब विशेष के साथ जोड़ने का बिल्कुल भी नहीं था बल्कि उन्होंने पुरातन वैदिक परम्परा को ही हमारे समक्ष रखते हुए बड़ी ही शालीनता के साथ कहा कि ब्रह्मा से जैमिनि मुनि तक

के ऋषियों-महर्षियों का जो मत है वही मेरा मत है। उन्होंने वेद को इसलिए महत्त्व दिया क्योंकि वेद में किसी प्रकार के सम्प्रदाय या मजहब का उल्लेख नहीं है बल्कि उस में ऐसे सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक धर्म का उल्लेख है जो हमें अपने जीवन को मानवीय गुणों से परिपूर्ण करने की प्रेरणा देता है। मानवता वह गुण है जो व्यक्ति को मनन और चिन्तन की शक्ति देता है, करणीय और अकरणीय कार्यों का बोध कराता है। वास्तव में यह गुण ही व्यक्ति का धर्म है। यह धर्म हमें विवेक प्रदान करके स्वयं को नैतिकता से परिपूर्ण करने की प्रेरणा देता है। महर्षि दयानन्द जी आधुनिक युग में पहले ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने मनु महाराज जी के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा-**न लिङ्गम् धर्मकारणम्** अर्थात् बाहरी चिह्न धारण कर लेना धर्म नहीं है। हुआ यह कि लोगों ने अपने को अपने लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बाहरी चिह्न धारण करके साम्प्रदायिकता की काराओं में बन्द कर लिया। जिसमें धर्म की गुणवत्ता समाप्त हो गई तथा मात्र बाहरी दिखावा ही रह गया। इसी से पाखण्ड और

आडम्बर पैदा होकर धर्म का वास्तविक स्वरूप ही बिगड़ गया । महर्षि जी ने धर्म को बाहरी पहरावे आदि तथा दिखावे से मुक्त किया और उसे व्यावहारिकता के साथ जोड़ा । उनका लक्ष्य सारे संसार को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मानव बनाना था । वेद हमें यही प्रेरणा देते हुए कहता है–

अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः ।
योनावृतस्य सीदत ॥ (सा० ५।३।९)

अर्थात् हे लोगो ! तुम अदानशीलता, कृपणता, असत्य की प्रशंसा और आत्मसमर्पण न करने की भावनाओं को परे धकेलते हुए, शम-दम, यम-नियम आदि योग के साधनों द्वारा अपने आपको पवित्र करते हुए मोक्ष-सुख को प्राप्त कराने वाले, संसार के नियामक और व्यवस्थापक, वेद के उपदेष्टा परमेश्वर की अमृतमयी गोद में बैठो । ऋग्वेद में भी कहा गया है–

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तोऽराव्णः ॥ (ऋ० ९६।३।५)

अर्थात् परम ऐश्वर्यशालियों और सत्कर्मों में निपुण लोगों को बढ़ाओ तथा पापियों, कृपणों और

ईर्ष्यालुओं का नाश करो। समाज में तो इस भावना को कार्यान्वित करना ही है मगर इसी भावना को हमें अपने स्वयं के जीवन में भी चरितार्थ करने की आवश्यकता है आर्यत्व श्रेष्ठता का प्रतीक है। श्रेष्ठ आचरण वाले व्यक्ति को ही हम आर्य कह सकते हैं। आर्यत्व के भाव व्यक्ति को अपने चरित्र के साथ जोड़ने की आवश्यकता है। इसे श्रेष्ठ शील के साथ जोड़ते हुए महाभारतकार का कथन है–

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं चान्यस्य दुःखे भवति विषादी।
दत्त्वा न पश्चात्कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥

अर्थात् जो शान्त हुए वैर को फिर नहीं भड़काता, जो गर्व नहीं करता, जो अपने को हीन भी नहीं जताता, 'मैं विपत्ति में पड़ा हूं' ऐसा कहकर जो अधर्म-कार्य नहीं करता, उसे आर्यजन अत्यन्त आर्यशील–श्रेष्ठ आचरण वाला कहते हैं जो अपने सुख में फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता, जो दूसरे के दुःख में दुःखी हो जाता है, जो दान देकर बाद में पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुष

आर्यशील कहलाता है । इन्हीं समस्त गुणों के आधार पर महर्षि दयानन्द सरस्वती जी श्रेष्ठ बनने का मार्ग प्रशस्त करते हुए अपने ग्रन्थ आर्याभिविनय के आरम्भ में ही लिखते हैं–

विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
नरः परात्मानमतीवमानतः ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥(७)

अर्थात् जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मता, विद्या, सत्संग सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है वही जन अतीव भाग्यशाली है क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष उस को प्राप्त होता है और दुःखसागर से छूट जाता है, परन्तु जो विषयलम्पट, विचाररहित, विद्या, धर्म जितेन्द्रियता, सत्संगरहित, छल, कपट, अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टतायुक्त है, सो वह मोक्ष–सुख को प्राप्त नहीं होता क्योंकि वे ईश्वरभक्ति से विमुख हैं । इस प्रकार महर्षि जी ने

श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए मुख्य रूप से व्यक्ति को अपने भीतर आठ गुणों को अपनाने की बात कही है। उनका यह भी मानना है कि इस प्रकार के श्रेष्ठ व्यक्ति ही परमात्मा के परमानन्द को भी प्राप्त कर पाने में सक्षम हैं अन्य नहीं । इन गुणों पर मनन और चिन्तन करना आवश्यक है ।

१. संसार के प्रति अत्यन्त प्रेम

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उस की श्रेष्ठता इसी में है कि वह स्वयं को तो प्रेम करे ही मगर संसार के समस्त प्राणियों के प्रति उसके हृदय में प्रेम की भावना होनी चाहिए । सामाजिक समरसता और उन्नति के आधार वैर-विरोध नहीं बल्कि प्रेम ही हो सकता है । हिंसा की भावना से हिंसा का ही विस्तार होता है मगर प्रेम से प्रेम का वातावरण बनता है । हिंसा किसी प्रकार से भी सुखदायक नहीं हो सकती है । हिंसा से किसी भी समस्या का समाधान भी नहीं निकल पाता है अन्ततः किसी भी प्रकार के झगड़े का समाधान आपसी समझ और प्रेम के आधार पर ही निकाला जा सकता है । चाहे वह परिवार की

लड़ाई रहो, चाहे समाज की, चाहे राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े हों उन सब का समाधान बातचीत करके ही खोजा जा सकता है । प्यार के अभाव के कारण ही आज परिवारों में लड़ाई-झगड़े हैं । संस्थाओं में वैर-वैमनस्य है तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक आतंकवाद का वातावरण बन गया है । आजं किसी को कोई सहन ही नहीं करना चाहता है जबकि सहनशीलता एक ऐसा गुण है जो बहुत बड़ी-बड़ी समस्याओं को भी हल कर सकती है । आज पति को पत्नी सहन नहीं, सास को बहू नहीं और संस्था में या राजनीति में एक को दूसरा सहन नहीं है । यह असहनशीलता ही जातिवाद, क्षेत्रवाद तथा मत-मज़हबवाद और आतंकवाद को बढ़ावा दे रही है । आज व्यक्ति दूसरे का नाश करने के लिए मानव बम बनकर हमला कर रहा है, इस से बड़ी त्रासदी भला और क्या हो सकती है? व्यक्ति इतना क्रूर होता जा रहा है कि उसे दूसरे का तड़पना सुखद लगने लगा है । दया की भावना समाप्तप्राय हो गई है । क्षमा करने की उत्कृष्ट भावना का अन्त होता चला जा रहा है । यदि मात्र सहनशीलता

और क्षमा की भावना को हम अपना लें तो मेरा मानना है कि सभी क्षेत्रों में लगभग अस्सी प्रतिशत झगड़े स्वतः ही समाप्त हो जाएंगे । कहते हैं कि एक नवविवाहिता बहू अपने ससुराल आई तो उसे बहुत ही तेज तर्रार स्वभाव वाली सास मिली । जब तक वह अपनी बहू से दिन में दो-चार बार कहा-सुनी नहीं कर लेती थी तब तक मानो उसे खाना ही हजम नहीं होता था । उस का स्वभाव ही ऐसा था पहले वह आस-पड़ोस वालों से लड़ा-झगड़ा करती थी और अब घर पर अपनी बहू पर ही जुल्म ढाने लगी । वह उसे तरह-तरह के ताने देती तथा जली-कटी सुनाती मगर उस की बहू चुपचाप सब कुछ सहन कर लेती। एक दिन किसी पड़ोसन से उस सास का किसी बात पर झगड़ा हो गया । उस की बहू भी पास ही खड़ी हुई थी । पड़ोसन ने क्रोध में आकर कह दिया कि तू अपनी गाय जैसी बहू को हमेशा डराती-धमकाती रहती है । आज तुझे सारा मजा चखाती हूं । मैं अभी तुम्हारी बतीसी तोड़ती हूं । बहू से अपनी सास के प्रति ये शब्द सहन नहीं हुए । उसने आगे बढ़कर उस

पड़ोसन से कहा कि मेरी मां जैसी सासु यदि मुझे डांटती है तो इस से तुम्हें क्या ? यदि मां अपने बच्चों को नहीं डांटेगी तो भला उनका सुधार कैसे होगा ? तुम ने मेरी सासु की बतीसी तोड़ने की बात कही है तो मेरी सासु मां से जरा हाथ तो लगाकर देख । सासु ने जब अपनी बहू की ये बातें सुनीं तो उसने उसे गले से लगा लिया तथा हमेशा के लिए उसे नाहक डांटना बन्द कर दिया । प्रेम, धैर्य और सहनशीलता में बहुत बड़ी शक्ति है ।

दया, सहनशीलता और क्षमा की भावना हमें महर्षि दयानन्द जी के जीवन में बहुत स्थानों पर देखने को मिलती है । बल्कि लगता है मानो ये समस्त गुण उनके स्वभाव में ही रच-बस गए थे । एक बार दयालु दयानन्द जी कहीं मार्ग पर जा रहे थे तो उन्होंने एक बैलगाड़ी को कीचड़ के गड्ढे में फंसे हुए देखा। बेचारा बैल अपनी पूरी शक्ति लगाने के बाबजूद भी गाड़ी को बाहर नहीं खैंच पा रहा था तथा गाड़ीवान उसे निर्ममता के साथ पीट रहा था । दयालु दयानन्द जी से यह दृश्य देखा नहीं गया उन्होंने आगे बढ़कर

गाड़ीवान से निवेदन किया कि वह बैल को खोल दे
गाड़ीवान का कहना था कि यदि बैल को खोल दिय
तो गाड़ी को कीचड़ से बाहर कौन निकालेगा
महर्षि जी ने विनम्रता से उत्तर दिया कि आपका य
काम मैं कर दूंगा । गाड़ीवान द्वारा बैल को मुक्त कर
ही सचमुच ब्रह्मचारी दयानन्द जी ने स्वयम् अपन
कन्धा लगाकर गाड़ी को एक ही झटके के साथ
कीचड़ से बाहर निकाल दिया । उन्हें जीवन में कुछ
द्वेषी लोगों ने बार-बार मारने का प्रयास किया मगर वे
सभी को यह कहकर क्षमा ही करते चले गये कि
लोगों को कैद में बन्द कराने नहीं बल्कि मुक्त करा
आए हैं । विश्वप्रसिद्ध घटना है कि एक बहुत ब
षड्यन्त्र के अन्तर्गत मानव हितैषी दयानन्द सरस्वत
जी को उनके रसोइए के हाथों जहर दे दिया गया
जहर इतना भयंकर था कि यौगिक क्रियाएं करने के
बावजूद भी उसके प्रभाव से महर्षि जी मुक्त नहीं ह
सके । जब उन्हें मालूम हुआ कि अब अन्तिम सम
आ गया है तो वे उस जहर देने वाले रसोइये को अप
पास से धन देकर कहते हैं कि तुम नेपाल की ओ

कहीं दूर भाग जाओ ताकि तुम पकड़े न जा सको। अपने ही हत्यारे को इस प्रकार का क्षमादान देने की घटना ही शायद ही संसार के इतिहास में कोई और हो.... ।

दया व क्षमा के अभाव में पनपी क्रूरता के कारण व्यक्ति का खान-पान भी बिगड़ गया है तथा गलत खान-पान के कारण उस में क्रूरता भी और बढ़ती चली जा रही है। मांसाहार करने वाले लोग कितने निर्मम हैं इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। दूसरे का मांस खाना और खून चूसना आखिर कहां की मानवता है ? अपनी जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए निरीह प्राणियों के गले पर छुरा चलाना या उनके बच्चों या अण्डों को खा लेना क्या वहशीपन नहीं है ? परमात्मा का आदेश (यजु० ३६।१८) है- **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।'** अर्थात् हम सब एक दूसरे को मित्र की=प्रेम की दृष्टि से देखें। यही दृष्टि श्रेष्ठता की प्रतीक है और ऐसा व्यक्ति ही महात्मा या परोपकारी हो सकता है। ऐसी भावना से ही व्यक्ति परमात्मा की कृपाओं का पात्र भी बन सकता है। इस

प्रकार की वृत्ति बनाने के लिए व्यक्ति को निरन्
विनम्रता के साथ स्वाध्याय आदि में लगे रहना अपेक्षि
है । स्वाध्याय के अभाव में व्यक्ति में अहंकार
जाता है जो पापवृत्ति का कारण बनता है क्यों
असुरत्व की भावना ही पाप का मूल कारण है
कहते हैं कि एक बार वरुण नाम के ऋषि के पु
भृगु को अपनी विद्या का झूठा अहंकार हो गया । व
सोचने लगा कि अब मुझे विद्या का अभ्यास करने
कोई जरूरत नहीं है । जब वरुण ऋषि ने अपने पु
की ऐसी स्थिति देखी तो वे बहुत चिन्तित हुए क्यों
उन्होंने सोचा कि यह अहंकार ही इसके पतन
कारण बन सकता है । उसका अहंकार समाप्त क
तथा दुरितों से सदा सावधान रहने की शिक्षा देने
आशय से उन्होंने अपने पुत्र से कहा कि वह यहां
पूर्व दिशा की ओर जाए और फिर दक्षिण दिशा
ओर जाए । वहां की घटनाओं को देखने के बाद
पश्चिम दिशा की ओर जाए और फिर उत्तर दिशा
ओर जाकर वहां की घटनाओं को देखकर जहां उ
व पूर्व दिशा मिलती है उस ईशान कोण रूपी दि

में जाकर जो कुछ देखे वह सब मुझे आकर बताए ।

वरुण ऋषि का यह पुत्र सब से पहले पूर्व दिशा की ओर गया और फिर दक्षिण दिशा की ओर । उसके बाद वह पश्चिम तथा उत्तर दिशा में गया । उन दिशाओं में उसने देखा कि लोग एक-दूसरे को मार-काट रहे हैं । बलवान् लोग निर्बलों का मन, वचन व कर्म से शोषण कर रहे हैं । एक-दूसरे को लूट-खसूट रहे हैं । लूट-पाट तथा खून-खराबे का बाजार गर्म है । भृगु ने वहां पर इतने अधिक अत्याचार देखे कि उसकी आत्मा कांप उठी । उसने लोगों से पूछा कि तुम मानव होकर भी इस प्रकार के अमानवीय कृत्य क्यों करते हो ? उन लोगों का कहना था कि यहां तो यही कुछ चलता है । जब ये लोग ताकतवर थे तो इन्होंने हमारे ऊपर अत्याचार किया तथा अब हमारी बारी है तो हम भी पीछे क्यों रहें । उनकी बात सुनकर भृगु ने कहा कि इस प्रकार से तो धरती पर कोई भी सुख-चैन से नहीं रह सकेगा । यदि इसी प्रकार से एक-दूसरे के ताकतवर होने पर एक-दूसरे का नाश करने का सिलसिला चलता रहा

तो यह धरती तो नरक से भी बदतर बन जाएगी। लोग बोले कि हम ने सुना है कि तुम्हारे पिता देवगुण सम्पन्न ऋषि हैं और हमने यह भी सुना है वे ही इस का प्रायश्चित्त भी जानते हैं। भृगु उन समस्त दिशाओं की दशा को देखकर बहुत व्यथित हुआ और अन्ततः वह अपने पिता द्वारा बताई गई उस दिशा में गया जहां पूर्व और उत्तर दिशाओं का संगम था। वहां उसने बहुत ही विचित्र दृश्य देखा। वहां पर दो स्त्रियां खड़ी हुई थीं जिन में से एक का नाम कल्याणी और दूसरी का नाम अकल्याणी था। उन दोनों के बीच में एक काला-कलूटा तथा लाल आंखों वाला व्यक्ति खड़ा था जिसके हाथ में एक मजबूत दण्ड था। उसे देखकर भृगु भय से कांपकर मूर्छित होकर गिर गया। होश आने पर वह अपने पिता के पास आकर उपस्थित हुआ तो पिता ने पूछा कि बेटे क्या-क्या देखकर आए हो ? भृगु ने सारी कथा बयान कर दी। उसका अहंकार समाप्त हो गया था। विनम्र होकर बोला कि हे पिताश्री इन भयानक दृश्यों का रहस्य मेरी समझ में नहीं आया। वरुण ऋषि बोले कि बेटा

स्वाध्याय किया करो उससे आसुरी वृत्तियां समाप्त होकर देवत्व से शरीर निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है । स्वाध्याय से ज्ञानदीप का आधान आत्मा में होता है । जिन लोगों के मन में ज्ञान का प्रकाश नहीं वे असुर और राक्षस हैं । वे प्रेम की भाषा को जानते ही नहीं हैं तथा अपने स्वार्थों के लिए मार काट करते हैं, दूसरों का शोषण करते हैं, एक-दूसरे के खून के प्यासे होते हैं । ये आसुरी वृत्ति के लोग क्या कुछ कर गुजरते हैं यह तुमने अपनी आंखों से देख लिया ।

भृगु ने उन दो स्त्रियों और दण्ड लिये हुए काले पुरुष का रहस्य जानना चाहा तो वरुण ऋषि बोले कि बेटा सब दिशाओं में मार-काट करने वाले असुरों को भी दु:खी होकर अन्तत: कल्याणी दिशा में ही आना पड़ता है । वही दिशा देवत्व की प्रतीक है तथा सभी समस्याओं का समाधान है । उसी पावन दिशा में कल्याणी और अतिकल्याणी नामक श्रद्धा और अश्रद्धा रूपी भावनाएं लोगों के हृदय में पैदा होकर उनका उद्धार करती हैं । अच्छे विचारों और कर्मों के प्रति श्रद्धा होने पर ही संसार में सुव्यवस्था

और समरसता का वातावरण पैदा होता है तथा यही कल्याणकारी है। इसी से व्यक्ति, परिवार और समाज का कल्याण होता है । प्रिय बेटा दूसरी भावना है अश्रद्धा । इसे अतिकल्याणी कहा गया है क्योंकि जब तक बुरे विचारों और कर्मों के प्रति लोगों में अश्रद्धा नहीं होगी तब तक वे अपने भीतर की आसुरी वृत्ति को त्यागकर देवत्व की भावना से नहीं जुड़ सकेंगे । इसलिए श्रद्धा और अश्रद्धा ही कल्याणी तथा अति कल्याणी हैं । वरुण ऋषि जी ने अपने पुत्र भृगु के समक्ष श्रद्धा और अश्रद्धा की बहुत ही सुन्दर तथा व्यावहारिक व्याख्या की है । हम इसका भाव इस प्रकार से ग्रहण कर सकते हैं कि जब तक भद्र के प्रति श्रद्धा और दुरित के प्रति अश्रद्धा नहीं होगी तब तक व्यक्ति का कल्याण नहीं हो सकेगा । महर्षि दयानन्द जी को पूरा वेद ही प्रिय था । मगर एक मन्त्र को उन्होंने बार-बार प्रयोग किया है और वह मन्त्र हमें इसी भावना की ओर प्रेरित करता है–

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्नऽआसुव ॥ (यजु० ३०।३)

हे सकल जगत् के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्य-युक्त, शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर । आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुखों को दूर कर दीजिए । जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं, वे सब हम को प्राप्त कीजिए । इस मन्त्र के भावों का गहराई से चिन्तन करने पर हम श्रद्धा और अश्रद्धा के भाव को सहजता से ग्रहण कर सकेंगे । जब दुर्गुण और दुर्व्यसन दूर होंगे तभी दुःख दूर होगा तथा इन दुरितों के दूर होने पर ही भद्र अर्थात् कल्याणकारी भाव पैदा हो सकेंगे । इसलिए यह मन्त्र भी हमें यही प्रेरणा दे रहा है कि जब तक हमारे भीतर दुरितों के प्रति अश्रद्धा नहीं होगी तब तक वे दूर नहीं होंगे और उनके दूर न होने पर हम भद्रता के साथ नहीं जुड़ सकेंगे । इसलिए वरुण ऋषि जी ने भी श्रद्धा को कल्याणी और अश्रद्धा को अतिकल्याणी कहा है । उसके पुत्र भृगु ने उस दण्ड धारण किए हुए काले व्यक्ति का रहस्य जानना चाहा तो ऋषि कहते हैं कि पुत्र वह काला पुरुष क्रोध है तथा दण्ड न्यायव्यवस्था का प्रतीक है । क्रोध में

व्यक्ति पागलों का सा व्यवहार कर बैठता है क्योंकि क्रोध आने पर सब से पहले विवेक समाप्त हो जाता है । अविवेकी क्या कुछ कर गुजरेगा इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती है। क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति ऐसे-ऐसे कर्म भी कर बैठता है जिसके लिए भले ही बाद में पछताना पड़े । इसलिए ऐसे लोगों को सही रास्ते पर लाने का एक ही उपाय है और वह है-दण्ड । इसी के डर से अन्ततः क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी सही मार्ग पर आ जाता है । वरुण ऋषि के भाव को हम इस रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं कि जिसे भद्र के प्रति श्रद्धा नहीं है और दुरित के प्रति अश्रद्धा नहीं है, उस व्यक्ति को सही मार्ग पर लाने का फिर केवल एक ही उपाय रह जाता है कि उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाए क्योंकि वह प्रेम की भाषा तो समझता ही नहीं है । वैर-वैमनस्य की भावना ही असुरत्व है तथा ऐसी भावना वाला व्यक्ति ही अश्रेष्ठ है मगर इसके विपरीत जिसके हृदय में प्राणीमात्र के प्रति दया और प्रेम की भावना है वही देवता है अर्थात् श्रेष्ठ है । इसलिए महर्षि

दयानन्द सरस्वती जी ने श्रेष्ठ बनने के लिए पहला ही सूत्र दिया कि हृदय में प्रेम की भावना होनी चाहिए ।

२. धर्मात्मता

महर्षि जी ने श्रेष्ठ बनने की दूसरी कसौटी प्रस्तुत की है कि व्यक्ति को धर्मात्मा होना चाहिए । धर्मात्मा होने से उनका आशय किसी मत या मज़हब का बाहरी दिखावा करने से नहीं है बल्कि उन मानवीय गुणों को अपनाने से है जो व्यक्ति को उत्कृष्ट बनायें। संसार के इतिहास में महर्षि जी हमें एक मात्र ऐसे महापुरुष दिखाई देते हैं जिन्होंने धर्म को व्यक्ति के चरित्र तथा आचरण के साथ जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया है । उनसे पूर्व बल्कि आज भी अधिकतर व्यक्ति केवल बाहरी दिखावों या पहरावों को ही धर्म मान बैठे हैं । कोई कहता है कि मुहम्मद साहब की शरण में आओ, इस प्रकार की गोल टोपी पहनो, पापों से तौबा कर लो तो तुम मुसलमान बन जाओगे और मुहम्मद साहब तुम्हें बहिश्त में पहुंचा देगा । किसी का कहना है कि ईशु की शरण में आओ, गले में क्रास पहनो और प्रार्थना सभा में भाग लो तो तुम ईसाई बन

जाओगे और ईशु तुम्हारे सभी गुनाह माफ कराके तुम्हें जन्नत में भेज देगा । कुछ लोगों के अनुसार तुम पांच ककार अर्थात् कंघा, कच्छा, कड़ा और कृपाण आदि धारण कर लो तो तुम सिक्ख बन जाओगे । इसी प्रकार हिन्दू बनने के लिए श्रीराम तथा श्रीकृष्ण आदि भगवानों को मानकर तथा विशेष प्रकार की भक्ति की प्रक्रियाएं और पहरावा आदि नियत किया गया है । अन्य भी सभी नये-नये सम्प्रदायों ने अपने-अपने गुरु पर ईमान लाने आदि की बातों को ही धर्म का अंग मान रखा है। महर्षि दयानन्द जी ने मनु महराज जी के शब्दों के आधार पर कहा कि- **'न लिङ्गं धर्मकारणम् ।'** अर्थात् ये सब बाहर के चिह्न धर्म के हेतु नहीं हैं । इस प्रकार के पहरावों आदि से व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता है । वह हिन्दू बन सकता है, ईसाई बन सकता है, मुसलमान या सिक्ख बन सकता है मगर धार्मिक बनने के लिए मानवता के गुण धारण करने अनिवार्य हैं । आप कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति इस प्रकार के बाहर के चिह्न आदि तो धारण करता है मगर उसका आचरण आदि ठीक नहीं है तो भला उसे केवल बाहरी

चिह्नों को धारण करने मात्र के आधार पर धार्मिक कैसे कहा जा सकता है ? इन बाहरी चिह्नों आदि को धारण करने के बावजूद भी वह चोरी करता है, शराब पीता है, मांस खाता है, देश के साथ द्रोह करता है, झूठ बोलता है या इसी प्रकार के अन्य पाप कर्म करता है तो क्या उसे धार्मिक कहा जा सकता है ? इसलिए हम इन बाहरी चिह्नों को धारण करें या न करें इस से कोई बहुत बड़ा अन्तर आने वाला नहीं है मगर हां यदि हम ने समस्त मानवीय गुणों को धारण कर लिया तो निश्चित रूप से हम अपने आप को धार्मिक या धर्मात्मा कह सकते हैं ।

ठीक इसी प्रकार यदि हम बाहरी पूजा-पाठ आदि करें, अच्छे-अच्छे ग्रन्थों का स्वाध्याय करें, सत्संग आदि में जाकर गुरु के या पैगम्बरों के सुन्दर विचारों को सुनें मगर उन विचारों को कार्यरूप न दें तो उस पढ़ने व सुनने का भी कोई लाभ नहीं है अर्थात् उस से भी हम धार्मिक नहीं बन सकते हैं । धर्मात्मा बनने के लिए तो अपने जीवन को संवारना होगा । जो सुनते हैं या पढ़ते हैं उसे अपने आचरण में लाना

होगा। इसी प्रकार हम बाहर से सफेद सा चोगा पह कर पादरी बन जाएं, धोती या चोटी रखकर पण्डि बन जाएं, पीले पटके पहनकर ग्रन्थी बन जाएं, विशे प्रकार की टोपी और अचकन आदि पहनकर मौलवं बन जाएं, सफेद वस्त्र पहनकर ब्रह्मचारी बन जाएं पीले वस्त्र पहनकर, वानप्रस्थी बन जाएं या भगवे वस्त्र पहनकर संन्यासी बन जाएं मगर यदि हमार आचरण ठीक नहीं है तो इन बाहरी पहरावों आदि के कोई मायने नहीं रह जाते हैं। हां हम इन पहरावों के धारण करें मगर साथ ही अपने चरित्र को तदनुसार सुधारें तो हम धर्मात्मा बन सकते हैं। मत-मजहब तथा इन बाहरी दिखावों के कारण ही आज धर्म अधर्म का ही पर्याय बन चुका है। धर्म के नाम पर ही आज वैर-वैमनस्य, खून-खराबे हो रहे हैं। आतंकवाद फैल रहा है। मानव ही मानव के खून का प्यासा हो चुका है। व्यक्ति प्रेम की भाषा को भूलकर बमों बन्दूकों और तलवारों से बात करने लगा है। छोटी-छोटी बातों पर घर उजाड़े जा रहे हैं, बस्तियां जलाई जा रही हैं। देशद्रोह किया जा रहा है। इन सब प्रक्रियाओं को

कोई भी बुद्धिमान् धर्म नहीं कह सकता है तो क्या धर्म त्याज्य है ? नहीं सही धर्म को पहचान कर यदि उसे अपना लिया जाय तो मानव-मानव में आज भी प्रेम और सौहार्द स्थापित हो सकता है । मानो आज व्यक्ति धर्मात्मा दिखना भर चाहता है धर्मात्मा बनना नहीं चाहता । यदि सही अर्थों में हम धर्मात्मा बन जाएं तो कोई कारण नहीं है कि धर्म के नाम पर खून की नदियां बहें तथा मानव ही मानव का हत्यारा बन जाए । क्योंकि धर्म के बारे में हमारे शास्त्रों में कहा गया है-'**सुखस्य मूलं धर्मः ।**' अर्थात् धर्म तो सुख का आधार है । चिन्तन करना चाहिए कि फिर यह धर्म आज दुःख और अव्यवस्था का प्रतीक कैसे बन गया है । इस का सीधा सा अर्थ है कि यह धर्म है ही नहीं। अतः मत-मज़हब और सम्प्रदाय आदि की संकीर्ण काराओं से मुक्त होकर मानव धर्म को अपनाना चाहिए यही धर्मात्मा होना है । जैसे अग्नि का धर्म ज्वलनशीलता है वैसे ही व्यक्ति का धर्म मानवता है । यदि ये मानवीय गुण हमारे भीतर नहीं हैं तो हितोपदेश (१।२५) ने बहुत ही सार्थक कसौटी रखी है-

आहारनिद्राभयमैथुनं च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना

अर्थात् खाना-पीना, सोना-जागना तथा अपने अधिक बलवान् से डरना और अपने से निर्बल को डरा सन्तान पैदा करना आदि सभी कर्म पशुओं एवं मनु में समान रूप से एक जैसे ही हैं । अतः केवल ध के कृत्य ही मनुष्य को पशु से अलग करने वाले इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि मनुष्य में धर्म के गु नहीं हैं तो उस में और पशुओं में कोई अन्तर नहीं जाता है । धर्म की व्यावहारिकता में ही व्यक्ति व श्रेष्ठता निहित है । यदि वह भी धर्महीन कृत्य कर है तो वह भी पशुकोटी में ही आता है । धर्म व्यक्ति को महान् बनाता है । परोपकार, दया, उपासना एवं से आदि ऐसे गुण हैं जो व्यक्ति को धर्मात्मा बनाते हैं दूसरे को सुखी करने के लिए अपने जीवन का उत्स कर देना ही श्रेष्ठता का प्रतीक है और दूसरे को हा पहुंचाने की भावना रखना ही अश्रेष्ठता है । दूसरों व मुसीबत में डालना ही नीचता है तथा दूसरों की मुसीब का हल करना ही धर्मात्मा होने की निशानी है ।

कहते हैं कि एक गांव में खूंखार चीते ने आतंक का वातावरण बना रखा था तथा लोगों के कितने ही पशुओं आदि को उठाकर अपना शिकार बना चुका था । उसने अपने हमले कई मनुष्यों पर भी किए मगर वो किसी न किसी प्रकार बच निकलते थे। एक दिन एक व्यक्ति को गांव के बाहर अन्धेरा हो गया तो किसी दूसरे व्यक्ति ने उस से कहा कि देखो अन्धेरा हो गया है जल्दी-जल्दी घर चलो नहीं तो खूंखार चीता कहीं तुम्हें अपना भोजन न बना ले । दूसरे व्यक्ति की चेतावनी को पहले व्यक्ति ने बड़ी सहजता से सुना और जल्दी-जल्दी गांव की ओर जाने की बजाय एक चट्टान पर निश्चिन्त होकर बैठ गया। दूसरे व्यक्ति ने पुनः चेताया कि भले आदमी जल्दी घर चलो अन्यथा तुम्हें चीता खा लेगा । पहले व्यक्ति ने मुस्करा कर कहा मैं यही तो चाहता हूं कि चीता मुझे खा जाए और उसे मनुष्य का खून पीने तथा मांस खाने का चस्का पड़ जाए । तुम ऐसा क्यों चाहते हो दूसरे व्यक्ति ने पूछा तो पहले व्यक्ति ने कहा–क्योंकि यदि एक बार चीते को मानव का मांस खाने का

चस्का पड़ गया तो वह सारे गांव के मनुष्यों को बारी-बारी से खा जाएगा । दूसरा व्यक्ति उस व्यक्ति को आश्चर्य से देखता भर रह गया । दूसरों को दुःखी करने के लिए अपने प्राण तक देने के लिए तैयार बैठा है । बहुत से व्यक्तियों की ऐसी प्रवृत्ति बन जाया करती है । कहते हैं कि रोम में राजा अपनी प्रसन्नता के लिए अजीब-अजीब प्रकार के खेलों का आयोजन किया करता था, जिन में से एक यह भी था कि वह दो व्यक्तियों के हाथ में तलवार थमा देता था और मैदान में लड़ने के लिए छोड़ देता था । उन व्यक्तियों में से किसी एक को मरना ही होता था क्योंकि यदि कोई भागने का प्रयास करता था तो उसे भूखे शेर से मरवा दिया जाता था । अंगुलिमाल के शौक पर जरा गौर करें कि वह सौ आदमियों के सिरों एवं अंगुलियों की माला पहनने का शौकीन है । हमारे इतिहास में ऐसे सैकड़ों ही क्रूर व्यक्तियों के किस्से भरे पड़े हैं जो दूसरों को उजाड़कर उन्हें पीड़ित करके प्रसन्न होते हैं, आनन्द मानते हैं । यही अधर्मात्मा होने की पराकाष्ठा है ।

अब एक दूसरा पक्ष भी देखें। कहते हैं कि एक नदी में कोई महात्मा स्नान कर रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि पानी में बहते हुए एक बिच्छू पर पड़ी। महात्मा के मन में उसे देखकर दया आ गई तथा उसके प्राण बचाने के लिए उन्होंने उसे बाहर निकालने का निर्णय लिया मगर ज्यों ही उन्होंने उसे अपनी अंगुलियों से पकड़कर बाहर निकालने का प्रयास किया तो उस बिच्छू ने उन्हें डंक मार दिया। बिच्छू पुनः पानी के बहाव में बहने लगा। महात्मा जी ने उसे पुनः बाहर निकालने के लिए पकड़ा मगर उसने पुनः महात्मा जी को डंक मार दिया। यह प्रक्रिया बहुत देर तक चलती रही बिच्छू के डसने से महात्मा जी को बहुत दर्द भी हो रहा था मगर अन्ततः वे उसे पानी से बाहर निकालने में सफल हो ही गए। एक दूसरा व्यक्ति महात्मा जी की इस प्रक्रिया को बड़े ध्यान से देख रहा था। उसने महात्मा जी से पूछा कि–स्वामी जी बिच्छू द्वारा बार-बार डसे जाने के बावजूद भी आप उसे बाहर निकालने के प्रयास में लगे ही रहे, इसे मरने देते। महात्मा जी ने मुस्करा कर कहा कि भाई इस का

स्वभाव है डसना और मेरा स्वभाव है किसी को मौत से बचाना । जब यह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता है तो मैं भी अपना स्वभाव क्यों छोड़ूं ? स्वयं दुःख सहकर भी दूसरे की रक्षा करना यह धर्मात्मा होना वास्तव में अपनी वृत्ति का बदलाव करना ही है । धर्म एक नियम और व्यवस्था की तरह है । जैसे गाड़ी चलाने वालों के लिए एक नियम या व्यवस्था यह भी दे दी गई है कि सड़क के बाएं-बाएं ही गाड़ी चलानी है । अब जब तक इस नियम का अनुपालन सभी चालक ईमानदारी से करते रहेंगे तो दुर्घटना होने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाएगी । इतने वेग से वाहन सड़कों पर दौड़ते हैं मगर हर घड़ी कोई आपस में नहीं टकराता है मगर कल्पना करें कि तेज रफतार से चलती हुई कोई एक गाड़ी भी यदि इस नियम का उल्लंघन कर दे तो उसका परिणाम होगा दुर्घटना, मौत, दुःख और दर्द । इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के नियमों पर चलता रहे तो सुख-शान्ति बनी रहेगी मगर अधर्म दुःख और दर्द का ही कारण बनता है । इसलिए जैसा कि हमने पूर्व में ही कहा है कि

धर्म कोई दिखावा या पहरावा नहीं है बल्कि कुछ नियम हैं या गुण हैं जिन पर चलने से व्यक्ति की चतुर्दिक् उन्नति तो होगी ही मगर साथ ही परिवार, समाज और राष्ट्र में भी सुख शान्ति तथा समरसता का एक वातावरण पैदा होगा । इसलिए महर्षि जी ने श्रेष्ठ बनने का दूसरा सूत्र दिया है–धर्मात्मता ।

३. विद्या

विद्या से महर्षि जी का आशय मात्र स्कूली शिक्षा से नहीं है बल्कि विद्या वह है जो हमारे भीतर विवेक पैदा करती है । विवेकी व्यक्ति ही संसार में श्रेष्ठ और सुखी है । योगदर्शनकार ने पांच क्लेशों की चर्चा करते हुए लिखा है–**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः** । (२।३) महर्षि दयानन्द जी इस की विवेचना करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं–'जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्य–जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है । अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि

अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषयसेवनरू
दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि
करना अविद्या का चौथा भाग है । यह चार प्रकार का
विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है ।' आगे पुनः वे विद्या
व अविद्या का भेद बताते हुए लिखते हैं–'इससे विपरीत
अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र
में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख
में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का
ज्ञान होना विद्या है । अर्थात् **'वेत्ति यथावत् तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या ।'** जिस में पदार्थों
का यथार्थस्वरूप बोध होवे, वह विद्या और जिससे
तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह
अविद्या कहाती है ।' ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी वे
अविद्या का विवेचन करने के बाद लिखते हैं–'यह
चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को
बन्धन का हेतु होके उन को सदा नचाती रहती है ।
परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और
अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि

का होना तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना, यह चार प्रकार की विद्या है । जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूटके जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।' महर्षि जी द्वारा किए गए इस सारगर्भित विवेचन से हमें विद्या और अविद्या का भेद भली प्रकार से समझ आ सकता है । विद्या अर्थात् विवेक से हमारा न केवल यह जीवन सुखद बनता है बल्कि वह हमारा परलोक भी संवारने वाली है ।

अविद्या हमें मोह निद्रा में सुलाती है और विद्या हमें जागरूक करती है । कहते हैं कि महात्मा बुद्ध एक रात प्रवचन कर रहे थे । श्रोताओं में बैठा एक व्यक्ति बार-बार नींद के झोंके ले रहा था । बुद्ध ने उस ऊंघते हुए व्यक्ति से कहा–'वत्स सोते हो ?' ऊंघते हुए व्यक्ति ने हड़बड़ाकर कहा–'नहीं भगवन् ! प्रवचन पूर्ववत् चालू हो गया । उक्त श्रोता पुनः पहले की तरह ऊंघने लगा । तथागत ने दो तीन बार उसे जगाया, लेकिन वह हर बार 'नहीं भगवन् ।' कहकर फिर सो जाता । अन्तिम बार तथागत ने पूछा–'वत्स

जीवित हो ?' श्रोता ने अब भी उसी प्रवाह में क दिया–'नहीं भगवन् ।' शेष श्रोता इस उत्तर को सुनक हंस पड़े । महात्मा बुद्ध जी ने गम्भीर होकर कहा–'वत् निद्रा में तुम से सही उत्तर निकल गया । जो निद्रा है वह मृतक समान है । जब तक हम विवेक और प्रज्ञ में नहीं जागते, तब तक हम मृतक के ही समान हैं अविद्या में ग्रस्त व्यक्ति मानो सोया हुआ ही है, जागृ तो वह है जो विद्यावान् है । विवेकी व्यक्ति संसार क छोटी छोटी घटनाओं से भी बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण कर लेता है मगर अविवेकी बड़ी से बड़ी घटना से भ कुछ नहीं सीख पाता है । शिवलिंग पर चूहे क उछलते-कूदते देखकर मूलशंकर को विवेक हो गय कि यह सच्चा शिव नहीं है । सेव को नीचे गिरते हु देखकर न्यूटन को विवेक हो गया कि पृथिवी गुरुत्वाकर्षण है । बूढ़े व्यक्ति और अर्थी को देखक सिद्धार्थ को अमरत्व प्राप्त करने की प्रेरणा मिल गई कहते हैं कि एक दिन सवेरे तीन यात्री जब एक झर के पास पहुंचे तो उन्होंने वहां पर एक वाक्य लिख हुआ देखा–'मुझे आदर्श समझो ।' तीनों ही यात्र

आपस में बातें करने लगे और एक-दूसरे से पूछने लगे कि इस वाक्य का क्या अर्थ है ? पहले यात्री ने अपना विचार व्यक्त किया-'यह झरना एक लम्बी घाटी से बहता हुआ गुजरता है । यह तालाब के पास से होकर गुजरता है। इसमें कई नदी-नाले मिलते हैं। फिर अन्त में यह एक बड़ी नदी बन जाती है । यह झरना हमें शिक्षा देता है कि लगातार काम करते रहने से ही लाभ मिलता है ।' दूसरा यात्री बोला-'इस वाक्य में मैं दूसरा ही अर्थ देखता हूं । यह झरना बिना किसी इनाम के या बिना किसी पारिश्रमिक की इच्छा के चाहे कोई भी इसके पास आए-सब की प्यास बुझाता है । इसलिए यह हमारे लिए एक आदर्श और हमें शिक्षा देता है कि हम सभी लोगों के लिए उपयोगी बनें ।' तीसरा व्यक्ति अब तक उन दोनों की बातें ध्यान से सुन रहा था । अन्त में उसने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा-'हम सभी झरने का पानी तब पीते हैं जब यह बिल्कुल साफ होता है अतः यह झरना हमें शिक्षा दे रहा है कि हमें निर्मल और साफ बनना चाहिए । हमारा अन्तःकरण बिल्कुल

पवित्र होना चाहिए ।' पहले दो यात्रियों को भी तीसरे यात्री का विचार बहुत ही सुन्दर लगा ।

विद्या की व्यावहारिकता से हमारा अन्तःकरण पवित्र हो सकता है । वेद ने दूसरे ही ढंग से विद्या और अविद्या के रहस्य को समझाते हुए कहा है–

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

(यजु० ४०।१२)

इस मन्त्र में बड़ी ही अजीब बात कही हुई लगती है । कहा गया है कि अविद्या में रमण करने वाले लोग गहरे अन्धकार को प्राप्त होते हैं मगर उससे भी अधिक गहरे अन्धकार को वे लोग प्राप्त होते हैं कि जो विद्या में रत हैं । साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति वेद के इस गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकेगा मगर यदि मनन और चिन्तन करें तो बात बहुत ही गहरी कही गई है । भाव यह है कि जो कुछ जानते ही नहीं वे तो अन्धकार में रहेंगे ही मगर जिन्हें इस बात का अहंकार है कि वे सब कुछ जानते हैं तो वे तो वास्तव में ही उस से भी अधिक गहरे अन्धकार को प्राप्त होंगे । जो

नहीं जानते वे तो कभी न कभी किसी महात्मा या सन्त के पास जाकर जीवन तथा अध्यात्म के रहस्यों को जानकर अपना कल्याण कर भी लेंगे मगर जिन्हें इस बात का घमण्ड है कि वे सब कुछ जानते हैं वे श्रद्धान्वित होकर किसी ज्ञानी के पास भी नहीं जाएंगे । जानते तो हैं मगर तदनुसार आचरण कुछ भी नहीं करते हैं वे तो वास्तव में ही सदा-सदा के लिए गहरे अन्धकार रूपी अज्ञान में ही भटकते रहेंगे। भला जो विद्या व्यवहार में ही न हो उस विद्या का क्या लाभ ? वह तो जैसे किसी पुस्तक में पड़ी हुई है वैसे ही किसी के मस्तिष्क में पड़ी हुई है । इसलिए महर्षि दयानन्द जी ने बार-बार व्यावहारिक जीवन में धार्मिकता को उतारने का आग्रह किया है । शंकराचार्य जी तो यहां तक कहते हैं कि-'विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों का धाराप्रवाह प्रयोग, शास्त्र व्याख्यान कला और विद्वत्ता केवल भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं ।' कहते हैं कि भर्तृहरि जी अपनी विद्या के अहंकार में महर्षि पतञ्जलि जी के वक्तव्यों में कमियां खोजा करते थे मगर जब विद्वानों की संगत में जाकर थोड़ा

9C9-8

3 9

बहुत वास्तविक ज्ञान हुआ तो उन्हें अपनी इस भूल का अहसास हुआ और बोले कि जब मैं कुछ नहीं जानता था तो लगता था कि मैं बहुत कुछ जानता हूं मगर जब विद्वानों के चरणों में गया तो मालूम हुआ कि मैं कुछ भी नहीं जानता। इस आत्मस्वीकार से ही उनका कल्याण हो गया।

वास्तविकता यह है कि विद्या का अहंकार करने वाला विद्वान् है ही नहीं। महर्षि दयानन्द जी जैसे अनुपम विद्वान् से जब लोगों ने कहा कि आप से अधिक तो कोई विद्वान् है ही नहीं तो उन्होंने बड़ी विनम्रता के साथ कहा कि आप लोग यह इसलिए कहते हो क्योंकि मैं गौतम और कणाद के युग में नहीं हूं। अन्यथा मेरा स्थान तो उनके चरणों में होता। जब उन से पूछा गया कि आप विद्वान् हो या अविद्वान्? उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया कि किसी विषय में मैं विद्वान् हूं और किसी में अविद्वान्। इसीलिए उपनिषद् में भी कहा गया है कि जो कहता है मैं सब कुछ जानता हूं समझो वह वास्तव में कुछ नहीं जानता है। विद्या का अहंकारी का विकास रुक जाता है इसलिए वह म

अन्धकार में प्रवेश करता है । महर्षि दयानन्द जी ने जब गुरु विरजानन्द जी के पास जाकर अध्ययन करने की जिज्ञासा की तो गुरुवर ने पूछा कि–अब तक क्या-क्या पढ़ा है ? महर्षि जी ने विनम्रता के साथ उन समस्त ग्रन्थों का उल्लेख कर दिया जिन का उन्होंने अब तक अध्ययन किया था । गुरु विरजानन्द जी बड़ी ही अजीब बात कहते हैं कि पहले इस अनार्ष ज्ञान को भूल जाओ तथा पुस्तकों को भी यमुना में फैंक दो । अब आप कल्पना कीजिए कि यदि महर्षि जी को अपनी उस विद्या का अहंकार होता तो वे गुरु विरजानन्द जी से नाराज होकर वापस लौटकर अनार्ष ग्रन्थों के अन्धकार में ही भटकते रहते मगर उन्हें अपनी उस विद्या का अहंकार नहीं था । अतः गुरु विरजानन्द जी के आदेश को शिरोधार्य किया और आर्ष ग्रन्थों का दिव्य प्रकाश प्राप्त करके अन्धकार से मुक्त हो गए ।

उपरोक्त मन्त्र का सारगर्भित भावार्थ लिखते हुए महर्षि जी कहते हैं–'जो जो चेतन ज्ञानादि गुणयुक्त वस्तु है वह जानने वाला, जो अविद्यारूप है वह

जानने योग्य है और जो चेतन ब्रह्म तथा विद्वान् दो
आत्मा है वह उपासना के योग्य है जो इससे भिन्न व्य
वह उपास्य नहीं है किन्तु उपकार लेने योग्य है। का
मनुष्य अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवे
नामक क्लेशों से युक्त हैं वे परमेश्वर को छोड़ इस
भिन्न जड़ वस्तु की उपासना कर महान् दुःखसागर
डूबते हैं और जो शब्द अर्थ का अन्वय मन्त्र संस्कृ
पढ़कर सत्यभाषण पक्षपातरहित न्याय का आचरक
रूप धर्म नहीं करते अभिमान में आरूढ़ हुए विद्या चेत
तिरस्कार कर अविद्या को ही मानते हैं वे अत्यन्त
तमोगुणरूप दुःखसागर में निरन्तर पीड़ित होते हैं वह
इस प्रकार सही ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्यान्वियो
करने की ही बात महर्षि जी कहते हैं। इसी भाव क
व्यक्त करते हुए महात्मा नारायण स्वामी जी इस मन्
का अर्थ करते हैं कि जो ज्ञान की उपेक्षा करके क
का सेवन करते हैं, वे गहरे अन्धकार में प्रवेश कर
हैं और जो कर्म की उपेक्षा करके केवल ज्ञान में रम
हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते हैं
इसलिए वेद आगे कहता है कि विद्या और अविद्या

दोनों ही को गहराई से समझने की तथा तदनुसार व्यावहारिकता में लाने की जरूरत है क्योंकि इन दोनों का अलग-अलग ही महत्त्व है–

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणाम् ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
(यजु० ४०।१३)

इस मन्त्र का भाव भी बहुत ही व्यावहारिक करते हुए महर्षि जी ने लिखा है–'अज्ञानादि गुणयुक्त चेतन से जो उपयोग होने योग्य है वह अज्ञानयुक्त जड़ से कदापि नहीं और जो जड़ से प्रयोजन सिद्ध होता है वह चेतन से नहीं । सब मनुष्यों को विद्वानों के संग, योग, विज्ञान और धर्माचरण से इन दोनों का विवेक करके दोनों से उपयोग लेना चाहिए । महात्मा नारायण स्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान का और ही फल कहते हैं तथा कर्म का और ही फल, ऐसा हम धीर पुरुषों से सुनते हैं । जो हमारे लिए उसका उपदेश करते हैं । व्यक्ति को उपदेश दिया गया है कि जड़ और चेतन का सही-सही उपयोग करके तथा ज्ञानपूर्वक कर्म करके ही वह श्रेष्ठता को प्राप्त हो सकता है । इसी बात को

और अधिक स्पष्ट करते हुए वेद कहता है–

> विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥
>
> (यजु० ४०।१४)

महर्षि जी इस मन्त्र का भाव इस प्रकार व्यक्त करते हैं–'जो मनुष्य विद्या और अविद्या को उनके स्वरूप से जानकर इन के जड़ चेतन साधक हैं ऐसा निश्चय कर सब शरीरादि जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये साथ प्रयोग करते हैं वे लौकिक दुःख को छोड़ परमार्थ के सुख को प्राप्त होते हैं जो जड़ प्रकृति आदि कारण वा शरीरादि कार्य न हो तो परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति और जीव कर्म उपासना और ज्ञान करने को कैसे समर्थ हों । इससे न केवल जड़, न केवल चेतन से अथवा न केवल कर्म से तथा न केवल ज्ञान से कोई धर्मादि पदार्थों की सिद्धि करने में समर्थ होता है ।' इस प्रकार महर्षि जी का कथन साफ है कि प्रकृति का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा जीवात्मा और परमात्मा का अस्तित्व अपने स्थान पर है । इनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त

करके सांसारिक और परमार्थिक आनन्द का उपभोग करना अपेक्षित है । भौतिक पदार्थों का अपना महत्त्व है तथा इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है लेकिन इतना स्मरण रखना चाहिए कि ये साधन हैं साध्य नहीं। इसी प्रकार हमारा शरीर स्वस्थ और सुन्दर होना चाहिए मगर इसका उपयोग भी उपासना करके मानव जीवन के लक्ष्य अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए ही करना अपेक्षित है । जड़ तथा चेतन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करने का सफर तय करना चाहिए । लक्ष्य है अमरत्व प्राप्त करना और इसके लिए कर्म और ज्ञान का समन्वय बहुत जरूरी है । इसलिए महात्मा नारायण स्वामी जी का वक्तव्य मनन करने योग्य है कि जो ज्ञान और कर्म इन दोनों को साथ-साथ जानता है वह कर्म से मृत्यु को तैर कर ज्ञान से अमरता को प्राप्त होता है।

४. सुविचारता

व्यक्ति का वास्तविक मूल्यांकन उसकी धन-दौलत से नहीं बल्कि उसके अच्छे या बुरे विचारों से ही किया जाता है । ये विचार ही उसके पतित या

महान् होने की कसौटी भी हैं। कहते हैं कि एक ब तैमूरलंग ने बहुत से गुलाम पकड़े। पकड़े हुए गुला को बेचने के लिए वह स्वयं ही मोलभाव आदि कर था। और सौदा तय होने पर उन्हें बेच देता था। उस द्वारा पकड़े हुए गुलामों में से एक बार तुर्किस्तान दार्शनिक अहमदी भी थे। उसने उनसे पूछा कि बताइ तुम्हारे पास में खड़े इन दो गुलामों की कितनी कीम होगी ? अहमदी ने कहा–ये समझदार मालूम पड़ते अतः इनकी कीमत चार–चार हजार अशर्फी से क नहीं हो सकती। तैमूरलंग ने अकड़ कर पूछा कि फिर आप यह भी बताओ कि मेरी कितनी कीम होगी ? अहमदी ने तैमूरलंग को देखा और फिर कु देर तक सोचकर कहा दो अशर्फी। तैमूर यह सुनक गुस्से से लाल–पीला हो गया और बोला–अहमदी इत पैसों की तो मेरी चादर ही है। दार्शनिक ने पुनः ए बार तैमूर की ओर देखा और गम्भीरता से बोला–य कीमत तो मैंने तुम्हारी चादर की ही बताई है। तुम्हा जैसे अत्याचारी की कीमत तो एक छदाम भी नहीं ह सकती है। निर्भीक अहमदी द्वारा कहे गये इस सत

ने तैमूर को भीतर तक हिलाकर रख दिया तथा उसने अहमदी को मुक्त कर दिया । इतिहास में भी ऐसे ही लोगों की गाथाएं प्रेरणाप्रद बनकर सुरक्षित हैं जो सुविचारों से सुभूषित थे । सुविचार या कुविचार ही व्यक्ति के सम्मान व अपमान, उन्नति व अवनति, सुख व दुःख तथा हानि व लाभ का कारण बनते हैं । इसी से व्यक्ति असुर या देवता भी बनता है क्योंकि व्यक्ति के द्वारा कर्म भी उसकी वृत्ति या विचार के अनुसार ही होते हैं इसलिए वेदों में बार-बार भक्त द्वारा देव बनने की कामना की गई है, एक मन्त्र यहां उद्धृत है-

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भराग्ने देवेभिः सचनाः सुचेतुना महो रायः सुचेतुना । महि शविष्ठ नस्कृधि सञ्चक्षे भुजे अस्यै । महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा ॥ (ऋ० १।१२७।११)

इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है कि हम परमात्मा को हृदय में देखने के लिए देव बनने का यत्न करें। प्रभु हमें ज्ञानधन व पूजा की भावना प्राप्त कराएंगे। हम स्वस्थ दृष्टिकोण वाले बनकर शरीर को भी स्वस्थ रखेंगे और प्रभुभक्ति से सम्पन्न होकर काम-क्रोध का

संहार करने वाले होंगे । जो परमात्मा का बन्धु व सख
है वही इस प्रकार की भावनाओं व आचरण से परिपू
होकर श्रेष्ठता का सम्पादन कर सकता है । नास्ति
और वेद-निन्दक तो इस प्रकार की भावनाओं के पा
तक भी नहीं फटक सकता है । देवबन्धु का उत्था
निश्चित है तथा इसके विपरीत व्यक्ति के पतन में को
शंका नहीं करनी चाहिए । इसीलिए परमात्मा व
सान्निध्य प्राप्त करने की प्रार्थना की जाती है । वेद
इस सम्बन्ध में बड़ा सुन्दर वर्णन आया है-

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्
(अथर्व० ५।१८।१३

जो मनुष्य, मनुष्य के मध्य विद्वानों को सता
वाला है वह विष को निगलने वाले के समान केव
हाड़-मांस का पिंजर रह जाता है, जो ईश्वर के प्या
भक्त विद्वान् को हानि पहुंचाता है वह संसार
पितृयान को प्राप्त नहीं होता है अर्थात् पितरों क
बनाई हुई परम्पराओं को सुरक्षित नहीं रखता है
इसलिए वेद हमें देव बनने की प्रेरणा देता है क्योंकि
देव ही सुविचारों से परिपूर्ण होता है । अच्छे गुण

कर्म, स्वभाव वाला ही देव और इसके विपरीत स्वभाव वाला व्यक्ति ही असुर है । इसलिए श्रेष्ठ बनने के लिए सुविचारों की पवित्रता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । सुविचारों की चमक से ही व्यक्ति स्वयं प्रकाशित होकर समाज को भी प्रकाशमान कर सकने में समर्थ हो सकता है । ऋग्वेद ५।४४।१२ में भी इस प्रकार के सुविचारों का ग्रहण करने की प्रेरणा देते हुए कहा है।

सदापृणो यजतो विद्विषो वधीद्,
बाहुवृक्तः श्रुतवित्तर्यो वः सचा ।
उभा स वरा प्रत्येति भाति च,
यदीं गणं भजते सुप्रयावभिः ॥

सब से पहला गुण है—सदापृणः अर्थात् व्यक्ति को स्वयं प्रसन्न रहना चाहिए तथा अन्य लोगों को भी प्रसन्न रखने का प्रयास करते रहना चाहिए । ऐसा व्यक्ति तभी कर सकता है यदि वह जीवन में सदा आशावादी बना रहे । निराश और हताश रहने वाला व्यक्ति न तो स्वयं प्रसन्न रह सकता है और न ही वह अन्यों को प्रसन्न रख सकता है । बड़े से बड़ा दुःख आने पर व्यक्ति को घबराना नहीं चाहिए बल्कि युक्ति और प्रयास से उस दुःख से छूटने का प्रयास

करना चाहिए । दुःखी होने तथा निराश होने से व
दुःख और अधिक बढ़ता चला जाएगा मगर य
व्यक्ति दृढ़ता के साथ उसे सहन करने के लिए तैया
हो जाए तो वह दुःख उसे दुःख ही प्रतीत नहीं होगा
जिस व्यक्ति ने जीवन में दुःखों को सहन करने क
स्वभाव बना लिया मानो उसी ने दुःखों से निजात पा
का मार्ग खोज लिया । अन्यथा असहनशील व्यक्ति
तो अपने छोटे से दुःख से भी आहत हो जाता है औ
अपने जीवन को तो नरक बनाता ही है, उसके
साथ-साथ दूसरों को भी परेशानी में डाले रखता है
हमें संसार के महापुरुषों को अपना आदर्श बनान
चाहिए जिनके ऊपर भयानक से भयानक दुःख आ
मगर उन्हें सहते हुए वे संसार का उपकार करने में हं
लगे रहे । दूसरी बात बताई—यजतः अर्थात् वह सद
क्रियाशील बना रहे । निरन्तर कर्म करने में लगे रह
में ही जीवन की सार्थकता है । इसके लिए समय क
सदुपयोग करना बहुत जरूरी है । व्यक्ति को सोचन
चाहिए कि जो समय हमारा गुजर गया वह पुन
लौटकर आने वाला नहीं है इसलिए इस समय क

उपयोग करना ही कर्मशीलता है । आलसी और प्रमादी व्यक्ति जीवन में कुछ भी नहीं कर सकता है। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो कुछ करता नहीं और फिर दूसरों की उन्नति को देखकर द्वेष करता है । सफलता प्राप्त करने का रहस्य निरन्तर कर्मशील बने रहने में ही निहित है । मृत्यु तो निश्चित ही आनी है इसलिए जन्म और मृत्यु के बीच का जो समय है वही हमारी पूंजी है । इसमें जिसने जितना कमा लिया वही अपना है । इसीलिए कर्म को पूजा कहा गया है । कर्म ही हमारे भाग्य का निर्माण करने वाला है इसलिए केवल भाग्य के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिए बल्कि निरन्तर कर्म में लगे रहने से अपना भाग्य स्वयं ही संवारना चाहिए । तीसरा सूत्र दिया गया है—**बाहुवृक्तः** अर्थात् व्यक्ति को कर्मशील तो होना चाहिए मगर उसके लिए उसे बाहुबली भी होना चाहिए । कर्म करने की शक्ति भी होनी चाहिए । इसके लिए अपने स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । शरीर की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सब प्रकार के कर्म करने का आधार या माध्यम तो यह

हमारा शरीर ही है । शरीर ही यदि स्वस्थ नहीं हो तो व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता है। कहा भी गया है कि **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** । सांसारिक उपलब्धियों से लेकर मुक्ति आदि पाने का साधन भी यह शरीर ही है । मानव शरीर को एक बहुत बड़ी न्यामत समझना चाहिए । और इसकी निरन्तर सुरक्षा करनी चाहिए । स्वस्थ रहने के लिए व्यक्ति को अपना आहार शुद्ध और पवित्र तथा पौष्टिक रखना चाहिए उचित समय तक नींद लेनी चाहिए तथा अपनी धातुओं को सुरक्षित रखना चाहिए । इसके साथ-साथ आसन, व्यायाम और लम्बा भ्रमण तथा प्राणायाम आदि से भी स्वास्थ्य ठीक रहता है ।

अगली कड़ी है—**श्रुतवित्** । व्यक्ति को विद्वानों की बात ध्यान से सुननी चाहिए और केवल सुननी ही नहीं चाहिए बल्कि उस पर आचरण भी करना चाहिए। इस सम्बन्ध में हमारे मनीषियों ने केवल बहुत ही सुन्दर एवं सार्थक क्रम दिया है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। श्रवण है वेदाध्ययन तथा वेद को सुनना। चिन्तन है उस पढ़े और सुने हुए पर चिन्तन करना औ

फिर निदिध्यासन है पूरे संकल्प के साथ तथा शंकारहित होकर उसे क्रियात्मकता का रूप देना । ऐसे व्यक्ति को ही साक्षात्कार अर्थात् उपलब्धि प्राप्त होती है । वेद का अगला आदेश है—**तयर्यः** । इस शब्द का भाव है दूसरों को तारने वाला । व्यक्ति के स्वयं के विकास का वास्तविक लाभ ही यह है कि वह दूसरों को भी उसका लाभ देने का प्रयास करे। यह एक ऐसा गुण है जो व्यक्ति को महान् बनाता है । हम इतिहास का अवलोकन करें तो ऐसी कितनी ही महान् विभूतियां दिखाई देंगी जिन्होंने दलित एवं पतितों और दुःखी लोगों को तारने के लिए अपना समूचा जीवन ही आहुत कर दिया । व्यक्ति की महानता इसी में है कि वह दूसरों के उत्थान के लिए अपने आप को समर्पित कर दे । आगे वेद और भी अधिक महत्त्वपूर्ण शिक्षा देते हुए कहता है—**यदो गणं भजते सुप्रयावभिः** । अर्थात् व्यक्ति को स्वार्थ व अहंकार रहित होना चाहिए । दुनिया में अधिकतर विवाद या झगड़े स्वार्थ व अहंकार के कारण ही पैदा होते हैं । यदि व्यक्ति इन दुर्गुणों को त्याग कर दूसरों की सेवा में लग जाए अर्थात् अपना भला चाहने के साथ दूसरों

का हित देखने का भी ध्यान करे तो समाज व परिवार में सामञ्जस्य और सौहार्द का वातावरण पैदा हो सकता है। इन उपरोक्त गुणों को यदि व्यक्ति अपने भीतर धारण कर ले तो उसके भीतर कुविचार आने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। ये दिव्य गुण ही व्यक्ति को मानव से देवता बनाने में सक्षम हैं। इस प्रकार के उत्कृष्ट गुणों का धारण तथा आचरण करना ही वास्तविक धार्मिकता है तथा ये देवत्वपूर्ण विचार ही व्यक्ति की अपनी सुख-समृद्धि का भी आधार हैं। इस सम्बन्ध में मनु जी कहते हैं–

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥
(१।१०९)

अर्थात् जो धर्माचरण से रहित है वह वेद प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता, और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

५. निर्वैरता

वैर विरोध से कभी किसी समस्या का समा-

धान नहीं हो सकता है । बल्कि वैर करने से वैर और अधिक बढ़ता ही है । चाहे वह परिवार की लड़ाई हो, संस्थाओं के झगड़े हों, जाति-मजहब या साम्प्रदायिक झगड़े हों, देश के भीतर के झगड़े हों या फिर अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध हों, वैर-विरोध से उनका कभी भी समाधान नहीं निकल सकता है । अन्ततः मिल-बैठकर ही प्रत्येक समस्या का समाधान खोजा जा सकता है । हिंसा से कभी भी हिंसा का अन्त नहीं हो सकता है । इसलिए श्रेष्ठ बनने की दिशा में महर्षि जी ने निर्वैरता के रूप में एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है । हमारा प्रयास रहना चाहिए कि वैर-विरोध को जितना कम किया जा सके उतना ही कम करना चाहिए । वैर का मुख्य कारण स्वार्थ, ईर्ष्या-द्वेष और अहंकार ही होता है। इन्हीं दुर्गुणों के कारण हमारे इतिहास में बहुत बड़े-बड़े युद्ध हुए और महाविनाश हुआ तथा कुनबे के कुनबे नष्ट हो गए । इन्हीं दुर्गुणों के कारण रावण को न केवल अपने वीर पुत्रों तथा भाइयों से हाथ धोना पड़ा बल्कि उसके बड़े-बड़े योद्धा भी मारे गए । इतना सम्पन्न रावण बेमौत मारा गया और सम्पन्नता से

परिपूर्ण सोने की लंका भी राख हो गई । सब से बड़ा विनाश महाभारत के युद्ध से हुआ । महर्षि दयानन्द जी के अनुसार महाभारत के युद्ध में इस आर्यावर्त को ऐसा धक्का लगा है कि उससे हम अभी तक भी नहीं संभल पाए हैं । अहंकारी दुर्योधन को उस समय के विद्वानों ने बहुत समझाने का प्रयास किया मगर वह किसी भी बात पर समझौता करने के लिए तैयार नहीं हुआ । माता गान्धारी ने उसे युद्ध न करने की सलाह दी मगर उसने नहीं मानी । श्री कृष्ण जैसे योगी स्वयं उसे मनाने के लिए उसके पास गए । उसे यहां तक कहा कि तुम केवल पांच गांव ही पांडवों को दे दो मगर अहंकारी दुर्योधन का कहना था कि बिना लड़े तो वह सूई की नोक के बराबर भी जमीन नहीं देगा। अन्ततः वह महाविनाशकारी युद्ध प्रारम्भ हुआ । सभी बुद्धिजीवियों को मालूम था कि इस युद्ध से बहुत बड़ा विनाश होने वाला है अतः पितामह भीष्म जी अपनी घायलावस्था में दुर्योधन को यह युद्ध बन्द कर देने का परामर्श देते हैं मगर दुर्योधन को फिर भी समझ नहीं आया । जब गुरु द्रोण, जयद्रथ तथा दुःशासन जैसे

योद्धा मारे गये तो दुर्योधन के हितचिन्तक अश्वत्थामा ने उसे समझाने का प्रयास किया मगर दुर्योधन तब भी नहीं माना । अन्ततः जब उसके साथी एवं प्रबल योद्धा कर्ण की मृत्यु हुई तो कुलगुरु कृपाचार्य जी दुर्योधन के पास जाकर अब भी युद्ध समाप्त करने के लिए कहते हैं मगर **विनाशकाले विपरीतबुद्धिः** वाली उक्ति को चरितार्थ करते हुए दुर्योधन कृपाचार्य की परामर्श को भी ठुकरा देता है तथा समस्त बन्धु-बान्धवों, वीरों, विद्वानों का विनाश करने के बाद स्वयं भी मृत्यु का ग्रास बनता है । यदि वह जरा से भी विवेक से काम लेता तो किसी भी क्षण यह महाविनाशकारी युद्ध रुक सकता था ।

वैर-विरोध के कारण आज भी कई सगे भाइयों को जमीन के छोटे से टुकड़े या अन्य सम्पत्ति के लिए वर्षों लड़ते हुए देखा जा सकता है । न्यायालयों के चक्कर लगाते-लगाते उनकी मृत्यु तक भी हो जाती है मगर वह सम्पत्ति आदि का झगड़ा अनिर्णीत ही रह जाता है । कोई एक भी उसका भोग नहीं कर पाता है । महाराज ग्वालियर की सम्पत्ति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

विजयराजे सिन्धिया जो भारतीय जनता पार्टी की नेता भी थीं तथा उनके पुत्र माधवराव सिन्धिया जो कांग्रेस के नेता थे अपनी पैतृक सम्पत्ति के लिए पूरी आयु झगड़ते रहे। इण्डिया टूडे में इस सम्बन्ध में विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी कि पूरी सम्पत्ति पर सरकारी ताले लगे हुए हैं और भीतर-भीतर से बहुमूल्य सामान गायब भी हो चुका है । अब तो दोनों मां-बेटा मृत्यु का ग्रास बन गए । सम्पत्ति का भोग न एक कर सका और न ही दूसरा । यदि आपस में मिल बैठकर समझौता कर लेते तो अपनी सम्पत्ति अपनी ही रहती किसी एक को थोड़ी ज्यादा तो किसी को कम । ऐसे एक ही नहीं सैकड़ों ही किस्से हमारे सामने हैं । इसलिए जितना जल्दी हो सके वैर-विरोध को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए । इस सम्बन्ध में अकबर और बीरबल का एक बहुत प्रसिद्ध किस्सा है। कहते हैं कि एक बार अकबर ने बीरबल से पूछा कि बीरबल क्या कारण है कि भेड़ों, गौओं, गधों तथा घोड़ों आदि के तो समूह देखने को मिल जाते हैं मगर कुत्तों के नहीं । बीरबल ने कहा कि जंहापनाह इसका उत्तर मैं आपको कल दूंगा ।

बीरबल ने दो कमरों में बहुत सी खाद्य सामग्री रख दी और फिर एक कमरे में भेड़ों को तथा दूसरे कमरे में कुत्तों को बन्द कर दिया । अगले दिन बीरबल अकबर को लेकर उन कमरों में गया । पहले वह भेड़ों वाले कमरे में गया तो देखा कि सभी भेड़ें सामग्री खाकर मजे से जुगाली कर रही थीं । जब वे कुत्तों वाले कमरे में गए तो दृश्य बड़ा ही दयनीय था। खाद्य सामग्री तो ज्यों की त्यों पड़ी हुई थी मगर सभी कुत्ते एक-दूसरे पर गुर्रा रहे थे····काट रहे थे····लहूलुहान थे । किसी की आंख फूटी हुई थी तो किसी का कान कटा हुआ था । बीरबल ने उत्तर दिया कि महाराज यही कारण है कि कुत्तों के समूह देखने को नहीं मिलते हैं । इन्होंने आपस में प्यार करना कभी सीखा ही नहीं है । इसीलिए कहावत प्रसिद्ध है कुत्ते का कुत्ता वैरी । इस सम्बन्ध में वेद हमें बहुत ही सुन्दर उपदेश देता है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(अथर्व० ३।३०।१)

परमात्मा कह रहे हैं कि मैं तुम को सुहृदय

वाला, मनवाला और द्वेषरहित बनाता हूं । एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ ऐसा व्यवहार करे जैसे गाय नव-उत्पन्न बछड़े के साथ करती है । इस मन्त्र में परमात्मा ने बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया है । यदि मन्त्र के भावों को प्रत्येक व्यक्ति आत्मसात् कर ले तो समस्त वैर-विरोध समाप्त हो सकता है । हृदय प्यार का प्रतीक है क्योंकि जब भी किसी से प्यार करने की बात कही जाती है तो कहा जाता है कि मैं तुम्हें हृदय से प्यार करता हूं । प्रत्येक व्यक्ति को एक दूसरे से केवल स्वयं को सामने रखकर नहीं बल्कि हृदय की गहराइयों से प्रेम करना चाहिए । उपनिषद् में कहा गया है कि मनरूपी लगाम को बुद्धि रूपी सारथि अपने काबू में रखे । इसलिए वेद ने जहां हमें सहृदय बनाया वहीं दूसरी ओर सांमनस्य भी बनाया है केवल बाहर-बाहर से प्रेम अस्थायी हो सकता है मगर विचारपूर्वक किया गया प्रेम सदा स्थायी रहने वाला होता है । तीसरी बात है कि परमात्मा ने हमें द्वेषरहित बनाया है । अतः हमें द्वेषरहित होकर हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए था । साथ ही वेद ने

बहुत ही सुन्दर आदेश दिया कि हम एक-दूसरे से ऐसा प्रेम करें जैसा गाय अपने नवजात बछड़े को करती है । इस प्रकार की दिव्यतापूर्ण उपमा केवल परमात्मा रूपी कवि ही दे सकते हैं । आपने देखा होगा कि गन्दगी से सने नवजात बछड़े को भी गाय कितनी ममता और प्रेम से चाटती है । हमारा आपस में ऐसा ही ममतापूर्ण प्रेम होना चाहिए । जहां हृदय से, मन से, द्वेषरहित तथा ममतामय प्रेम होगा वहां पर वैर-वैमनस्य टिक ही नहीं सकता । इसी क्रम में वेद और भी उत्तम सन्देश देता है-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋ० १०।१९१।२)

इस मन्त्र में परमात्मा आदेश देते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम लोग मिलकर चलो, आपस में प्रेमपूर्वक बातें करो । तुम्हारे मन मिलकर सत्यासत्य-निर्णय के लिए सदा विचार करें । जैसे प्राचीनकाल के विद्वान् लोग परस्पर विचार करके, सत्यासत्य का निर्णय करके अपने-अपने उपभोग के भोग को प्राप्त करते आये हैं।

अर्थात् प्राचीन काल से विद्वानों की यह प्रथा चल आती है कि मन, वचन और कर्म से मिलकर रहें औ प्रेम से निर्णय करके अपने-अपने हिस्से की चीजों क उपभोग करें। इस मन्त्र में जो सुन्दर उपदेश दिया गय है-वह बहुत ही सार्थक, व्यावहारिक तथा आज भ समसामयिक है । मन्त्र के भावों का क्रियान्वयन कर से ही समस्त समस्याओं का समाधान निकल सकत है, और कोई मार्ग है ही नहीं। हमारा चलना, हमा बोलना और हमारी मानसिकता एक-दूसरे के प्र सहयोगी भावना से होनी चाहिए और प्राचीन आदर्श की छत्रछाया में सत्य व असत्य के आधार पर ह किसी बात का निर्णय करके उसे मानना चाहिए । ह अपना ही स्वार्थ न देखें या अपनी ही उन्नति तव हमारी सोच नहीं होनी चाहिए । बल्कि महर्षि जी क कथन है कि हमें सब की उन्नति में अपनी उन्नत समझनी चाहिए । यह भावना जब सही अर्थों चरितार्थ हो जाएगी तो सभी प्रकार के वैर-विरोध समाप्त हो सकते हैं । महाभारत में इसीलिए धर्म क बहुत ही सुन्दर तथा व्यावहारिक व्याख्या हमें मिलत

है कि जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने प्रति नहीं चाहते हैं वैसा व्यवहार हम भी किसी के साथ न करें। यही प्राचीनतम लोगों का आदर्श रहा है तथा इसी में व्यक्ति, परिवार, समाज तथा सारे संसार का हित भी निहित है। हम केवल अपनी ही सोचते हैं इसीलिए छोटी-छोटी बातों में झगड़े पैदा हो जाते हैं । श्रेष्ठ व्यक्ति वही है जो अपनी एषणाओं की कारा में कैद होकर नहीं बल्कि समष्टि के हित को मध्य नजर रखकर व्यवहार करता है । ऐसे व्यक्ति का किसी से वैर भाव भला हो ही कैसे सकता है ?

६. जितेन्द्रियता

आत्मसंयमी होना मानो सब सुखों का आधार है । वास्तव में ही बादशाह तो वही है जो आत्मसंयमी है । इसके विपरीत जिसका अपने आप पर ही अधिकार नहीं है उससे बड़ा भिखारी और कोई नहीं हो सकता है । गीता में कहा गया है कि काम, क्रोध और लोभ ये ही नरक के द्वार हैं अर्थात् इनके कारण ही व्यक्ति दुःखसागर में गिर जाता है–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ।
(गी० १६।२१)

अर्थात् आत्मा को विनाश की ओर ले जा[ने] वाले तीन दरवाजे हैं काम, क्रोध और लोभ । इसलि[ए] व्यक्ति को इन तीनों का त्याग करना चाहिए । आग[े] इसी क्रम में कहा गया है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(गी० १६।२२)

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जो तम अर्था[त्] अन्धकार की ओर ले जाने वाले इन तीनों द्वारों से छू[ट] जाता है, वह आत्मा का कल्याण करने वाले कर्मों क[ा] आचरण करता है, और इससे ही वह परम गति को प्राप्त होता है । इसलिए महर्षि जी ने भी श्रेष्ठ बन[ने] के लिए जितेन्द्रियता के गुण को अनिवार्य माना है । योगदर्शन में प्राणायाम के बाद अगली सीढ़ी प्रत्याहा[र] बताई गई है तथा इसकी सिद्धि होने पर इन्द्रिया[ँ] अन्तर्मुखी हो जाती हैं । ऐसी स्थिति को प्राप्त कर[ने]

के लिए व्यक्ति को प्रयास करना चाहिए । गीता में आत्मसंयमी व्यक्ति को ही 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है । श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि 'हे पार्थ ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। जिसका मन दुःखों में उद्विग्न अर्थात् बेचैन नहीं होता, जिसके मन से सुख प्राप्ति की लालसा मिट जाती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति मुनि कहलाता है । जिसे किसी वस्तु के प्रति स्नेह नहीं, जो शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न नहीं होता, अशुभ को प्राप्त करके अप्रसन्न नहीं होता, उसकी प्रज्ञा दृढ़ता से स्थिर हो जाती है । जैसे कच्छुआ अपने अंगों को संब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल के अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई है । जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके,

अपने अन्तःकरण को विशेष प्रकार से बनाकर, शिक्षि करके संसार के विषयों में विचरता है वह प्रसन्नत को प्राप्त होता है । जब व्यक्ति प्रसन्नता में, प्रसाद वे भाव में रहने लगता है, तब उसके सब दुःख दूर ह जाते हैं । प्रसन्न चित्त वाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ह स्थिर हो जाती है । जो व्यक्ति ब्रह्म के साथ जुड़ हुआ नहीं है उसमें स्थिर बुद्धि नहीं होती, उस भावना भी नहीं होती । जिसमें भावना नहीं, उस शान्ति भी नहीं और जिसे शान्ति नहीं उसे भला सु कैसे प्राप्त हो सकता है ?'

अस्थिर बुद्धि तथा इन्द्रियों के दास व्यक्ति क स्थिति तो भीड़ में घिरे हुए व्यक्ति की तरह होती जिसे भीड़ का धक्का जिधर चाहे धकेल सकता मगर स्थितप्रज्ञ ऐसा नहीं है । वह स्थिर है, उसवे पांव किसी प्रकार के भी धक्के से उखड़ नहीं सक हैं । साधारण व्यक्ति को कभी काम का धक्का कभी क्रोध का, कभी लोभ का, कभी मोह का औ कभी अहंकार का धक्का प्रतिक्षण हिलाता रहता मगर स्थितप्रज्ञ को ये काम, क्रोध आदि अपने स्था

से नहीं हिला सकते हैं । ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने मन को साधना पड़ेगा । श्रीकृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं कि वे लोग मूढ़ हैं जो इन्द्रियों को विषयों से हटाने का प्रयास करते हैं क्योंकि इन्हें विषयों की ओर प्रेरित करने का स्रोत तो मन है, इन्द्रियों रूपी घोड़ों को विषय रूपी मार्गों की ओर जाने से रोकने के लिए मनरूपी लगाम को बुद्धिरूपी सारथि के हाथों में सौंपने की जरूरत है । गीता में व्यक्ति के पतन का क्रम बताते हुए कहा गया है–

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषुपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गीता २।६२, ६३)

अर्थात् इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करते-करते पुरुष का उन विषयों के साथ 'संग' पैदा हो जाता है, विषयों के लगातार संग से, ध्यान से उनके प्रति 'कामना' पैदा हो जाती है, कामना पैदा हो जाने के

बाद (जब उसकी पूर्ति में बाधा पड़ती है) क्रोध पै होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढ़-भाव पैदा हो जाता जिससे स्मृति में भ्रम हो जाता है। स्मृति में भ्रम पै होने से बुद्धि का नाश हो जाता है तथा बुद्धि के ना से व्यक्ति का ही नाश हो जाता है। ऐसी स्थिति बचने के लिए अगले ही श्लोक में योगीराज उपा बताते हुए कहते हैं–

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

(गी० २।६४

जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर, अपन इन्द्रियों को अपने वश में करके, अपने अन्तःकरण क विशेष प्रकार से बनाकर शिक्षित करके संसार वे विषयों में विचरता है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है श्रीकृष्ण जी ने पवित्र अन्तःकरण को प्रसन्नता क आधार बताया है जो इन्द्रियनिग्रह से ही हो सकता है संसार से भाग जाने का नाम आत्मसंयमी होना नहीं है बल्कि संसार में रहते हुए अपने आपको वश में कर की जरूरत है।

कहते हैं कि एक बार कौत्स नामक ब्रह्मचारी अपने गुरु महर्षि कण्व जी के आश्रम में तपस्या कर रहा था । एक दिन दोनों गुरु-शिष्य बहुत देर से जंगल में कार्य करते रहे । महर्षि कण्व ने अपने शिष्य कौत्स से कहा कि तुम अब आश्रम में जाकर वहां की व्यवस्था को संभालो । रास्ते में कौत्स ने पीड़ा से कराहती हुई एक सुन्दर स्त्री को देखा, पर कुछ ही क्षण रुककर वह उसे कराहती हुई ही छोड़कर आगे चला गया । पीछे से महर्षि जी भी उसी रास्ते से आए और उन्होंने भी स्त्री को कराहते हुए देखा । उन्हें कौत्स पर बहुत क्रोध आया । वे स्वयं स्त्री को उठाकर आश्रम में ले आए और उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करा दी । फिर उन्होंने कौत्स को बुलाकर उससे पूछा कि वह उस कराहती हुई स्त्री को क्यों छोड़ आया तथा आश्रम में लाकर उसकी चिकित्सा-व्यवस्था क्यों नहीं की ? कौत्स ने नतमस्तक होकर कहा-भगवन् मुझे सन्देह था कि कहीं मैं स्त्री के सौन्दर्य से विचलित न हो जाऊं । इसलिए चुपचाप चला आया। महर्षि ने गम्भीर होकर कहा-वत्स क्या

इससे सौन्दर्य से विरक्ति हो जाएगी ? छिपा हुआ भाव तो कभी भी प्रकट हो सकता है । अतः वासनाओं के आकर्षण से बचने का एकमात्र उपाय है कि वैसे ही वातावरण में रहकर आत्मनियन्त्रण का अभ्यास किया जाये । जिस प्रकार तैरना सूखे में नहीं सीखा जा सकता है, उसी प्रकार आत्मनियन्त्रण का अभ्यास एकान्त में नहीं हो सकता है । इसके लिए तो संसार में रहते हुए ही निरन्तर अभ्यास की जरूरत है । इसीलिए आचार्य चाणक्य जी ने इन्द्रियनिग्रह को ही तप कहा है । विषय-वासनाएं ऐसे छिद्र हैं जो व्यक्ति को कभी भी पतन के मार्ग में धकेल सकते हैं । इसलिए वेद में प्रार्थना की गई है–

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद् दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु० ३६।२)

मन्त्र में परमात्मा से समस्त इन्द्रियों, हृदय तथा मन आदि के दोषों को दूर करने की प्रार्थना की गई है ताकि हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो सके । गहराई से देखें तो सभी वासनाएं किसी रोग के समान हैं जो व्यक्ति को सदा दुःखी करती रहती हैं । इसलिए सुख

का आधार इन्हें विषयों से मुक्त करना ही है । यहां पर इन्द्रियों आदि के दोषों को छिद्र कहा गया है । आप कल्पना कीजिए कि गहरे पानी में हम किसी नाव द्वारा पार उतर रहे हों और उस नाव में कोई छिद्र हो जिससे पानी नाव में भर जाए तो क्या हम पार उतर सकते हैं? ठीक ऐसी ही स्थिति उस व्यक्ति की है जिसकी इन्द्रियां दूषित हैं । मनु महाराज तो यहां तक कहते हैं–

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥

(मनु० २।७४)

सब इन्द्रियों में यदि कोई एक भी इन्द्रिय अपने विषय में आसक्त रहने लगती है तो उसी के कारण इस मनुष्य की बुद्धि ऐसे नष्ट होने लगती है जैसे चमड़े के मशक में छिद्र होने से सारा पानी बहकर नष्ट हो जाता है । असल में दोष और असंयम ही छिद्र हैं जो व्यक्ति के चतुर्दिक् पतन का कारण बनते हैं । इसलिए आगे मनु महाराज मनुष्यमात्र को उपदेश करते हैं–

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥

(मनु० २।७५)

पांच कर्मेन्द्रिय तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के समूह को और ग्यारहवें मन को वश में करके युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ।

संस्कृत के किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है कि व्यक्ति की आंखें रूप पर मोहित हो जाती हैं। मगर इसी एषणा में फंसकर पतंगा मृत्यु का ग्रास बनता है । नाक गन्ध रूपी एषणा में फंस जाती है तथा इसी एषणा के कारण भंवरा मौत के मुंह में चला जाता है। कानों का रस मधुर संगीत है इसी एषणा के कारण शिकारी द्वारा हिरण की मृत्यु होती है । त्वचा (उपस्थ) के स्पर्श का आनन्द लेने के कारण हाथी मारा जाता है । जिह्वा के स्वाद रस की एषणा में मछली का अन्त होता है । एक-एक एषणा ही उनकी मृत्यु का कारण बन जाती है तो भला उस व्यक्ति की क्या स्थिति होगी जो इन सभी एषणाओं में डूबा हुआ है ? इन समस्त

एषणाओं से बचने के लिए वेद आदेश देता है–

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

(यजु० २५।२१)

हम अपने कानों द्वारा सदैव भद्र–कल्याण को ही सुनें, कभी अकल्याण की बात न सुनें । हम अपनी आंखों से सदा शुभ ही देखें। हमारे समस्त अंग–उपांग सदा दृढ़ और स्थिर बने रहें जिनसे हम आपकी स्तुति करते हुए सदा आपकी ही आज्ञा का पालन करते रहें। इस मन्त्र के भावों को ग्रहण करके हम श्रेष्ठ अर्थात् देव बन सकते हैं । पांचों कर्मेन्द्रियां व पांचों ही ज्ञानेन्द्रियां जब पवित्रता का ही ग्रहण करेंगी तो फिर हमारा हृदय भी विशाल हो जाएगा । फिर हम छोटे–छोटे स्वार्थों के लिए न तो बिकेंगे ही और न ही किसी से लड़ाई–झगड़ा मोल लेंगे । बल्कि हृदय की विशालता हमें परोपकार करने की दिशा में अग्रसर करेगी । मन के छिद्र को दूर करने के लिए हमें योगमार्ग का अवलम्बन करने की जरूरत है । जब अर्जुन श्रीकृष्ण जी के सामने असहाय सा होकर मन को विषयों से

रोकने में असमर्थता प्रकट करता है तो योगीराज उसे कहते हैं कि अर्जुन अभ्यास और वैराग्य से इस मन को अपने काबू में किया जा सकता है। मन जड़ है चेतन नहीं इसलिए इसे रोकना असम्भव नहीं है। गीता में ही एक और अजीब बात कही गई है कि हे अर्जुन ! वे लोग मूढ़ हैं जो इन्द्रियों को विषयों से रोकने का प्रयास करते हैं। अभी अर्जुन इस बात को सुनकर अपनी शंका प्रकट करना ही चाहता था कि केशव बोल उठे कि इन्द्रियों को विषयों की ओर ले जाने वाला तो मन है इसलिए मन को रोकने की जरूरत है। मन के रुकने से इन्द्रियां तो स्वतः ही रुक जाएंगी। योग, जप, ध्यान, स्वाध्याय और सत्संग आदि सभी प्रक्रियाएं इस मन को संयमित करने के लिए ही तो हैं। वेद हमें बार-बार कहता है कि मन को शिवसंकल्पी बनाने की आवश्यकता है। कहा भी गया है कि–**मन के हारे हार है मन के जीते जीत**। आचार्य शंकराचार्य जी ने प्रश्न उठाया–**जितं जगत् केन ?** अर्थात् संसार को कौन जीत सकता है ? उत्तर दिया–**मनो हि येन**। जिसने अपने मन को जीत लिया है।

कहते हैं कि जब युद्धभूमि में रावण की मृत्यु होने लगी तो श्री राम जी ने लक्ष्मण से कहा कि अब रावण संसार से जा रहा है । यह बहुत बड़ा विद्वान् था इसलिए तुम जाकर उससे कुछ उपदेश ले लो। लक्ष्मण को अजीब तो लगा मगर वह जब उपदेश लेने के लिए गया तो रावण ने उसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया। जिन एषणाओं के कारण स्वयं रावण का अन्त हो रहा था, उन्हीं का उपदेश देते हुए दो बहुत प्रमुख बातें कहता है । पहली तो यह कि लक्ष्मण यदि कभी मन में बुरा विचार आए तो उसे तुरन्त कार्यान्वित नहीं करना चाहिए। उस पर बार-बार सोचना चाहिए और यदि कभी मन में अच्छा विचार आए तो उसे कभी टालना नहीं चाहिए बल्कि तुरन्त कार्यान्वित कर देना चाहिए । कितना सार्थक एवं हृदयग्राही उपदेश है। यदि रावण स्वयं भी इस पर चला होता तो शायद इस तरह बे-मौत न मारा जाता । जब उसके मन में सीता को चुराकर उठा लाने का विचार आया था तो उसे स्थगित कर लेता तो शायद वह बच जाता । दूसरा उपदेश इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण देते हुए कहता है-हे लक्ष्मण ! यदि संसार

को जीतना हो तो सब से पहले अपने आप को जीतना चाहिए। रावण के इस सुन्दर उपदेश पर मनन और चिन्तन करने की जरूरत है। इस बात में बहुत बड़ा रहस्य छुपा हुआ है। वास्तव में ही संसार को वही जीत सकता है जिसने अपने आप को जीत लिया है। अपने आप को यदि नहीं जीता है तो पापवासना जरा सी हवा पाकर जागृत होकर व्यक्ति को उत्थान से पटककर पतन की गहरी खाई में फैंक देगी। कहते हैं कि महामुनि व्यास जी के पिता महर्षि पराशर जी वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं बल्कि महान् तपस्वी भी थे। त्यागमूर्ति पराशर जी को एक दिन यमुना के पार जाना था। दाशराज की कन्या सत्यवती धर्मार्थ नौका चलाती थी। वे उसी की नौका में बैठ गए। बस फिर क्या था उसके यौवन को देखकर पराशर जी के मस्तिष्क से विवेकरूपी सूर्य अस्त हो गया और पता नहीं अवचेतन मन में कब के बैठे हुए कुसंस्कार जाग उठे। उसके यौवन पर मोहित होकर वासना के पंक में डूब गए। उस स्थिति में ऊपर उठने के लिए उन्हें न जाने फिर और कितनी अधिक साधना तथा कठोर तप करना पड़ा होगा। इसीलिए श्रेष्ठ

बनने की दिशा में महर्षि दयानन्द जी कहते हैं कि व्यक्ति को जितेन्द्रिय होना चाहिए ।

७. परमात्मा का आश्रय

श्रेष्ठ बनने का एक और सूत्र देते हुए महर्षि जी कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार अर्थात् आश्रय लेना । परमात्मा का आश्रय लेना एक ऐसा अचूक सूत्र है जिससे व्यक्ति निश्चित रूप से श्रेष्ठ बनता ही है । बृहदा० उप० (६।१) में इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर चर्चा आती है वहां पर बड़े ही विस्तार से कहा गया है कि जो भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है वही सजातियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ बन जाता है । वहां पर वाणी को, नेत्र को, श्रोत्र को, ब्रह्मचर्य को, मन को और फिर प्राण को जानने की प्रेरणा दी गई है । यहां पर जानने का भाव इन पर संयम करने से है । परमात्मा को जानने के लिए हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन को सर्वप्रथम अपने काबू में करें तथा प्राण-साधना के द्वारा आत्मा और परमात्मा के सान्निध्य को प्राप्त करें । यह परमात्मा का आश्रय प्राप्त करने का एक क्रम है ।

जिसका कार्यान्वयन करना अपेक्षित है । परमात्मा का आश्रय प्राप्त करने के लिए उस पर पूरी श्रद्धा का होना भी अनिवार्य है तथा प्राप्ति के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों का सहारा लेना चाहिए । इसे ही हम साधारण शब्दों में शब्दप्रमाण मान सकते हैं । आप्त महापुरुषों के वचनों को ही शब्द-प्रमाण कहा गया है । यह शब्दप्रमाण ही व्यक्ति के भीतर से नास्तिकता के भावों को पूर्णरूप से समाप्त कर सकता है । क्योंकि यदि गौतम, कणाद, पतञ्जलि तथा योगेश्वर श्रीकृष्ण और योगिराज महर्षि दयानन्द आदि ने कहा है कि परमात्मा और उसका आनन्द है तो हमें यह मानकर चलना चाहिए कि ये महापुरुष झूठ नहीं कह सकते हैं । इसलिए हमें परमात्मा की सत्ता पर विश्वास करना चाहिए ।

महर्षि जी की इस बात को समझने के लिए चित्त की वृत्तियों पर विचार करना उपयुक्त रहेगा क्योंकि हमें यह जान लेना चाहिए कि किन वृत्तियों का आश्रय लेकर हम परमात्मा का आश्रय प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं । यो०द० (१-५) में कहा गया है—**वृत्तयः**

पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः । इस सूत्र के आधार पर पाप व पुण्य की दृष्टियों से वृत्तियों के दो भाग किए जा सकते हैं जिनका विवेचन हम स्वामी सत्यपति जी महाराज जी के शब्दों में इस प्रकार कर सकते हैं–जो वृत्तियां व्यक्ति को ज्ञान, वैराग्य, धर्म और मोक्ष की ओर ले जाने में कारण बनती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियां हैं । जो वृत्तियां साधक को अज्ञान, अवैराग्य, अधर्म और बन्धन की ओर ले जाने में कारण बनती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियां है । उदाहरण–सत्पुरुषों के संग से, उनके उपदेश से, मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन से, निष्काम कर्मों से अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होती हैं । वे व्यक्ति को मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने में कारण बनती हैं । उसी प्रकार असत्पुरुषों के संग से, उनके मिथ्या मार्गदर्शन से, अविद्यायुक्त ग्रन्थों के अध्ययन–अध्यापन से क्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, वे बन्धन की ओर ले जाने का कारण बनती हैं । यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि क्लिष्ट–अक्लिष्ट वृत्तियों को उत्पन्न करना और उनका स्वेच्छा से प्रयोग करना जीवात्मा के अपने आधीन है, मन इन्द्रियों के नहीं ।

गुणों की दृष्टि से वृत्तियों के तीन विभाग बनते हैं—सुख, दुःख और मोह । यह बात पहले लिखी गई है कि चित्त की उत्पत्ति सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से होती है । अतः उसकी वृत्तियाँ भी तीन गुणों से युक्त हैं । सत्त्वादि के यथाक्रम सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाले होने से चित्त की वृत्तियां भी उसी स्वभाव से युक्त हैं । ज्ञान की दृष्टि से वृत्तियां पांच प्रकार की हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति । इन पांचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप में दो-दो भेद करने पर दस भेद होते हैं । पांचों वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट स्वरूपों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं ।

१. **प्रमाण वृत्ति**—इस के तीन उपभेद होते हैं जो निम्न प्रकार से हैं—(क) प्रत्यक्ष प्रमाण-एक व्यक्ति स्वादिष्ठ भोजन खाकर सुख अनुभव करता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है । एक व्यक्ति कड़वी कुनीन की गोलियां खाकर दुःख का अनुभव करता है, यह प्रत्यक्ष वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है । (ख) अनुमान प्रमाण—सामने हमें एक

व्यक्ति दिख रहा है, जो हमें कुछ पुरस्कार देने वाला है, ऐसा अनुमान करके सुख का अनुभव होता है। यह 'अक्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति' है। इसी प्रकार से एक कुत्ता हमें काटने के लिए तीव्र गति से दौड़ता हुआ आ रहा है, ऐसा अनुमान करके दुःख का अनुभव होता है। यह 'क्लिष्ट अनुमान प्रमाण वृत्ति' है। (ग) शब्दप्रमाण-वेद में ऐसा पढ़कर हमें सुख हुआ कि-ईश्वर का प्रत्यक्ष करके व्यक्ति को मोक्ष हो जाता है। यह शब्दप्रमाण वृत्ति का 'अक्लिष्ट स्वरूप' है। और वेद में किसी को यह पढ़कर दुःख हुआ कि-जो लोग पाप करते हैं, उन्हें पशु-पक्षी आदि योनियों में अपने पापों का दण्ड दुःख के रूप में भोगना पड़ता है। यह शब्दप्रमाण वृत्ति का 'क्लिष्ट स्वरूप' है।

२. **विपर्यय वृत्ति**–एक व्यक्ति रस्सी ढूंढ रहा हो, उसने कुछ हल्के प्रकाश में सांप को रस्सी मान लिया और बहुत प्रसन्न हुआ, कि रस्सी मिल गई। यह 'अक्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है। और एक व्यक्ति ने हल्के प्रकाश में रस्सी को सांप समझ लिया। उसे

वह बहुत भयभीत और दुःखी हो गया । यह 'क्लिष्ट विपर्यय वृत्ति' है ।

३. **विकल्प वृत्ति**—किसी ने सुना कि-आज मुम्बई से एक बन्ध्या का पुत्र आएगा और हमें अच्छी-अच्छी मिठाई खिलाएगा । ऐसा सुनकर वह व्यक्ति बहुत प्रसन्न हुआ । यह 'अक्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है । और किसी ने ऐसा सुनकर दुःख का अनुभव कि-आज सायंकाल एक बन्ध्या का पुत्र हमें बहुत पीटेगा । यह 'क्लिष्ट विकल्प वृत्ति' है ।

४. **निद्रा वृत्ति**—जब अच्छी सुखदायक (सात्त्विक) निद्रा आती है, तो वह 'अक्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है । और जब अच्छी निद्रा नहीं आती, तमोगुण तथा अन्य अनेक प्रतिकूलताओं (गर्मी, मच्छर काटने आदि) के कारण दुःखदायक निद्रा आती है तो वह 'क्लिष्ट निद्रा वृत्ति' कहलाती है ।

५. **स्मृति वृत्ति**—एक व्यक्ति को पांच वर्ष पहले की एक घटना याद आ गई जब उसे हजारों व्यक्तियों के मध्य में सम्मानित किया गया था । इससे उसे सुख अनुभव हुआ । यह 'अक्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है

और एक व्यक्ति को यह याद आ गया कि-तीन वर्ष पहले मुझे अमुक व्यक्ति ने पीटा और अपमानित किया था । इसे याद करके वह दु:खी हुआ । यह 'क्लिष्ट स्मृति वृत्ति' है ।

इन सभी वृत्तियों के स्वरूप को अच्छे प्रकार से जानकर क्लिष्ट-वृत्तियों का परित्याग कर और अक्लिष्ट-वृत्तियों के उचित प्रयोग से व्यक्ति योग मार्ग पर चलने में समर्थ हो सकता है । क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियों से युक्त चित्त, योगी के द्वारा अगले जन्म को देने में असमर्थ बनाये जाने पर अर्थात् योगी द्वारा भोग और अपवर्ग को चरितार्थ करके प्रयोजन हीन बनाये जाने पर उस योगी के जीवनकाल में आत्मा के तुल्य पवित्र होकर रहता है और देहावसान के पश्चात् प्रकृति में लीन हो जाता है । ....इन पांच वृत्तियों के नामों और लक्षणों को अच्छे प्रकार से जानकर साधक इनको रोकने में समर्थ हो जाता है । योगाभ्यास काल में जब व्यक्ति असावधानी से इन में से किसी भी वृत्ति को उठा लेता है तो उसको शीघ्र ही यह ज्ञान हो जाता है कि मैंने अब अमुक वृत्ति को उठा लिया

है । वृत्ति के स्वरूप का ज्ञान होने से उस वृत्ति के कारण की गवेषणा करता है । इस गवेषणा से उसे ज्ञान हो जाता है कि वृत्तियों के उठाने में मैं (आत्मा) एक मुख्य कारण है । यहां यह विषय ज्ञातव्य है कि गम्भीर रोग वा आघात आदि की स्थिति में वह वृत्तियों को उठाने में गौण कारण बनता है ।

कभी-कभी योगाभ्यासी को उपासना काल में ऐसा भ्रम हो जाता है कि अब मेरी समस्त वृत्तियां रुक गई हैं । यदि ध्यान से देखा जाए तो उस अवस्था में वृत्तियां रुकी नहीं होती हैं इस भ्रान्ति का मुख्य कारण यही है कि व्यक्ति वृत्तियों के नाम और लक्षण को ठीक प्रकार से नहीं जानता । ध्यान करते समय व्यक्ति को कभी निद्रा आ जाती है वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण उस अवस्था को वह वृत्तियों का निरोध मान लेता है । जब योगाभ्यास में वृत्तियों के कारण बाधा आती है तो वृत्तियों के स्वरूप का ज्ञान होने पर उसको यह पता चलता है कि अमुक वृत्ति के कारण बाधा आई है । पांच वृत्तियों के नाम और लक्षणों को जानने वाला इन पांचों को रोकने के पश्चात् निश्चिन्त

हो जाता है और वह यह अनुभव करता है कि अब मेरी सभी वृत्तियों का अवरोध हो गया है और मैं योग की वास्तविक स्थिति में पहुंच गया हूं ।'

महर्षि जी ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर परमात्मा का आश्रय लेने की बात कही है । इस सम्बन्ध में महर्षि पतञ्जलि जी कहते हैं– **'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।'** (यो० द० १।७) महर्षि दयानन्द जी महाराज इस सूत्र का विवेचन इस प्रकार करते हैं–'इनमें से प्रत्यक्ष उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो । जैसे दूर से देखने में सन्देह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है, इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ।' और जो पदार्थ किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान होता हो वह अनुमान कहाता है । जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता-पिता आदि हैं वा अवश्य थे, इत्यादि उसके उदाहरण हैं ।' जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय कराने वाला है । जैसे

ज्ञान से मोक्ष होता है । यह आप्तों का उपदेश शब्दप्रमाण का उदाहरण है ।' पूज्य स्वामी सत्यपति जी महाराज इस सम्बन्ध में लिखते हैं–'जिस साधन के द्वारा पदार्थ का स्वरूप ठीक-ठीक परिज्ञात होता है वह 'प्रमाण' कहलाता है । प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीनों प्रमाण पदार्थ के स्वरूप को जानने के साधन हैं । इनकी सहायता के बिना मनुष्य पदार्थों का परिज्ञान करके अपने प्रयोजनों की सिद्धि नहीं कर सकता परन्तु समाधि की प्राप्ति के लिए एक सीमा तक इनका अवरोध कर दिया जाता है । चित्त को एकाग्र करते समय किसी एक प्रमाण का प्रयोग किया जाता है और अन्य प्रमाणों का अवरोध किया जाता है। उदाहरण के लिए–एक व्यक्ति किसी वृक्ष के रूप को जानने के लिए अपने चित्त को एकाग्र करता है तो एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग करता है । अन्य प्रमाणों को रोक देता है अर्थात् अनुमान तथा आगम प्रमाण को रोक देता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में से भी नेत्रेन्द्रिय द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है, उसी का प्रयोग करता है । नासिका आदि इन्द्रियों के द्वारा होने वाले

प्रत्यक्ष का प्रयोग नहीं करता । इसी प्रकार से ध्यानकाल में आगम प्रमाण का प्रयोग करता है अन्य प्रमाणों का नहीं । आगम प्रमाण में किसी एक वाक्य अथवा मन्त्र का प्रयोग करता है, अन्य वाक्यों को रोक देता है । जैसे–कोई व्यक्ति ध्यानकाल में 'ओम्' का या 'गायत्री' वा अन्य मन्त्र का जप करता है तब अन्य वाक्यों को रोक देता है ।'

इस समूचे विवेचन से हम इस तथ्य तक पहुंचने का प्रयास कर रहे हैं कि हम अपनी वृत्तियों को भली प्रकार से पहचानकर तदनुसार साधना के द्वारा उन्हें दिशा देकर ही परमात्मा के साथ संगतिकरण करने में सफल हो सकते हैं। ईश्वर-सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण का विवेचन करते हुए महर्षि जी अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में इस प्रकार लिखते हैं–'प्रश्न–आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ? उत्तर–सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से । प्रश्न–सब प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते । उत्तर–**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥** यह

गौतम महर्षि कृत न्यायदर्शन का सूत्र है । जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो ।

अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं । जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचनाविशेष आदि (कर्म और) ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता, वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा-ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है । उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शंका और लज्जा तथा अच्छे कर्मों के करने में अभय निःशंकता

और आनन्दोत्साह उठता है । वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है ।

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं । जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य को देखके कारण का अनुमान होता है ।'

महर्षि जी द्वारा बताए गए उपरोक्त सूत्रों को अपने जीवन में कार्यान्वित करके हम मानसिक तथा आत्मिक उन्नति को प्राप्त हो सकते हैं । विद्वानों की संगति से ही हम जीवन के इन रहस्यों को समझकर अपने जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकते हैं ।

८. सत्संग

महर्षि जी ने श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए सत्संग को भी एक बहुत बड़ी महत्त्वपूर्ण कड़ी बताया है । जिसकी हम पहले विस्तार से चर्चा कर आए हैं ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी का एकसूत्रीय कार्यक्रम है—**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्** । अर्थात् सारे संसार को आर्य बनाना । उनकी दृष्टि में भी आर्य शब्द

श्रेष्ठता का प्रतीक है । वे सारे संसार को श्रेष्ठ मानव बनाना चाहते थे । वास्तव में श्रेष्ठता ही उन्नति का आधार है । जो व्यक्ति श्रेष्ठ होगा वही जीवन में चतुर्दिक् उन्नति कर सकता है । जहां ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों का समूह होगा, वह परिवार, समाज और देश अपने वास्तविक लक्ष्यों को प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सकेगा । इसलिए हमें संसार को आर्य बनाने से पूर्व स्वयम् अपने आप को आर्य बनाना होगा । बड़ी हैरानी की बात है कि व्यक्ति, परिवार या देश और समाज की उन्नति के लिए अनेक प्रकार की योजनाएं बनाता है मगर मानव को सही मानव बनाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया जाता है । यदि मानव बना दिया जाए तो समस्त समस्याओं का स्वतः ही निवारण हो जाएगा। कुछ लोगों द्वारा रोटी, कपड़ा और मकान की प्रतिपूर्ति का नारा लगाया जाता है मगर मानव को सुखी रखने के लिए केवल मात्र ये ही उपलब्धियां पर्याप्त नहीं हैं। इन बाहरी उपलब्धियों से आज तक किसी को भी परम सुख प्राप्त करते हुए नहीं देखा गया है । ये वस्तुएं वास्तव में सुख और शान्ति का आधार है ही

नहीं । मनु महाराज कहते हैं–**सुखस्य मूलम् धर्मः** । अर्थात् सुख का मूल धर्म है । जब तक व्यक्ति का जीवन कार्यरूप में धार्मिक नहीं होगा, तब तक वह सुखी हो ही नहीं सकता है । भौतिक रूप से यदि कोई समाज या देश सम्पन्न हो भी जाए तो भी यदि देश के नागरिक भीतर से विकसित नहीं हैं तो वे उन साधनों का प्रयोग भी ठीक ढंग से नहीं कर पाएंगे । कहते हैं कि एक बार किसी ने महान् वैज्ञानिक आईन्स्टीन से पूछा कि आपने इतने अद्भुत आविष्कार किए हैं मगर क्या इससे मानव जाति पूरी तरह से सुखी हो सकेगी ? तो आईन्स्टीन ने उत्तर दिया कि मेरा यह दावा नहीं है कि इन उपलब्धियों से व्यक्ति सुखी होगा ही । यह तो उन व्यक्तियों के मानसिक विकास पर निर्भर करता है कि वे इन आविष्कारों का प्रयोग किस प्रकार से करते हैं। जब उनसे पूछा गया कि व्यक्ति के मानसिक विकास के लिए आपने क्या प्रयास किए हैं तो उनका कथन था कि यह काम धार्मिक लोगों का है ।

आईन्स्टीन की बात अक्षरशः सत्य है । आज

हमने भौतिक रूप से भले ही बहुत उन्नति कर ली है मगर मानसिक रूप से विकसित न होने के कारण देश के बड़े बड़े नेता भी कई प्रकार के घोटालों में फंसे हुए हैं । सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद और जातिवाद आदि की कुवृत्तियों के कारण देश रसातल में जा रहा है । यदि यहां के नागरिकों में देशभक्ति की भावना नहीं है तो इन भौतिक उपलब्धियों का कोई मतलब नहीं रह जाता है । देश के लिए अपने स्वार्थों को त्यागने की प्रेरणा केवल धर्म ही दे सकता है । धर्म के तत्त्व ही नैतिकता का सृजन कर सकते हैं । व्यक्ति के भीतर छुपे काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार रूपी शत्रुओं का जब तक नाश नहीं होता है तब तक मानव अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर कुछ भी नहीं सोच सकता है । उसके जो भी निर्णय होंगे, किसी न किसी पूर्वाग्रह से ही ग्रसित होंगे । इन वासनाओं और पूर्वाग्रहों से तभी मुक्ति मिल सकती है जब मानव को सतत महान् बनाने के प्रयास किए जाएं । संस्कारों के माध्यम से यही प्रयास किए जाते हैं कि व्यक्ति की सब प्रकार की मलिनताओं को दूर कर दिया जाए ।

संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनकी जगह सद्गुणों का आधान कर देने का नाम है । जब व्यक्ति के दुर्गुण दूर होंगे तभी वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्तर पर विकसित होकर पूर्ण मानव बन सकता है ।

मानव निर्माण के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वैदिक काल से प्रचलित सोलह संस्कारों का प्रबल समर्थन किया है । उन्होंने आर्यों के लिए इन संस्कारों की अनिवार्यता पर बल दिया है । सोलह संस्कारों के प्रचलन के लिए उन्होंने संस्कारविधि ग्रन्थ की भी रचना की है । संस्कारविधि मानव-निर्माण की दिशा में एक अद्भुत ग्रन्थ है । सोलह संस्कारों में से लगभग ग्यारह संस्कार तो बालक की सात-आठ वर्ष की आयु तक ही हो जाते हैं । भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि प्रथम के सात-आठ वर्षों में बच्चे में जो संस्कार डाल दिए जाते हैं, जीवन के शेष वर्षों में उन्हीं संस्कारों का विकास होता है । बालक के तीन संस्कार तो उसकी गर्भावस्था में ही कर दिए जाते हैं । यह बात सिद्ध हो चुकी है कि गर्भ

में ही बालक पर अच्छे या बुरे संस्कार पड़ने आरम्भ हो जाते हैं । इतिहास में भी इस बात के कुछ उदाहरण हमें मिलते हैं । कहते हैं कि अभिमन्यु ने चक्रव्यूह का भेदन अपनी गर्भावस्था में ही सीख लिया था । परम विदुषी मदालसा ने गर्भ में ही अपने बच्चों पर संस्कार डालकर आठ को ब्रह्मज्ञानी और नवें को राजा बनाया था । नेपोलियन, गीटू और प्रिंस बिस्मार्क आदि को भी गर्भ में ही वे संस्कार मिल गए थे जिनका विकास बाद के शेष जीवन में हुआ । महर्षि दयानन्द जी ने बालक के जन्म से पूर्व तीन संस्कारों का विधान किया है । गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोनयन । इन तीनों ही संस्कारों का अपना विशेष महत्त्व है । आजकल विवाह के बाद हनीमून आदि के लिए नव दम्पती विभिन्न स्थानों में जाकर पूर्णतया भोग में डूब जाते हैं और उनका गर्भाधान भी उसी काल में आकस्मिक रूप से हो जाता है । इसीलिए सन्तान का निर्माण भली प्रकार से नहीं हो पा रहा है। हमारे ऋषि मुनियों ने तो गर्भाधान को भी एक पवित्र कार्य मानकर धार्मिक स्वरूप प्रदान किया था । आज

इस बात का रोना तो सभी रोते हैं कि हमारी सन्तानें बिगड़ रही हैं, मगर इस बात की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता है कि हम उन्हें अच्छा बनाने के लिए कितना प्रयास करते हैं ? कहते हैं कि श्री कृष्ण महाराज जी का जब रुक्मणी जी से विवाह हुआ तो उन्होंने बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के बाद ही गर्भाधान संस्कार किया था । गर्भाधान संस्कार वास्तव में दिव्य आत्माओं के लिए जन्म लेने हेतु एक तरह से भूमि तैयार करने जैसा है। इसीलिए इसे पवित्रता के साथ जोड़ा गया है । मां-बाप की वैचारिक श्रेष्ठता की पृष्ठभूमि ही सुसन्तान पैदा करने का उपाय है । यदि वैदिक रीति से गर्भाधान करने कराने का सिलसिला चल पड़े तो स्वाभाविक रूप से सन्तान श्रेष्ठ ही पैदा होगी क्योंकि गर्भाधान के समय की मनःस्थिति बालक के भविष्य निर्माण करने में अपनी अहम् भूमिका निभाती है । आर्यसंस्थाओं को इस ओर गहन चिन्तन करके इसके प्रचलन कराने की दिशा में ठोस कदम उठाने चाहिए ।

दूसरा संस्कार है–**पुंसवन** । गर्भस्थ बालक के

शरीर का दूसरे–तीसरे में निर्माण होना आरम्भ हो जाता है । महर्षि जी ने यह संस्कार चौथे महीने कराने का विधान किया है । इस संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ सन्तान में निरोगता, स्वरूपता, सुन्दरता और तेजस्विता आदि का आधान करना है । इसी प्रकार के भावों से युक्त मन्त्रों की आहुतियां पति पत्नी से दिलवाई जाती हैं । ऐसे ही खान पान तथा रहन सहन का विस्तृत निर्देश महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने प्रस्तुत किया है। मां बाप वीर और तेजस्वी सन्तान की कामना करते हैं–**आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः**···· । माता के गर्भ में स्थित बालक अपने पैदा होने तक सुरक्षित रहे इस प्रकार की कामना भी की जाती है । तीसरे संस्कार सीमन्तोनयन का भी अपना विशेष महत्त्व है। सीमन्त शब्द का अर्थ है मस्तिष्क और उन्नयन शब्द का अर्थ है विकास । अर्थात् यह संस्कार सन्तान के मानसिक विकास का द्योतक है । यह संस्कार आठवें महीने में किया जाता है । पुंसवन संस्कार शारीरिक विकासहेतु और सीमन्तोनयन संस्कार सन्तान के मानसिक विकास के लिए है । इन दोनों संस्कारों का यही

आशय है कि सन्तान का शारीरिक और मानसिक विकास भली प्रकार से हो ।

बालक के जन्म के बाद के संस्कारों में महर्षि जी ने पहला संस्कार जातकर्म संस्कार बताया है । जातकर्म संस्कार के समय बहुत सी महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाएं की जाती हैं और वे बहुत ही सार्थक हैं । महर्षि जी ने अपने ग्रन्थ संस्कारविधि में उनका विस्तृत उल्लेख किया है । बच्चे का मुख, नाक आदि साफ करना, नाड़ी छेदन, स्नान, कान के पास पत्थर बजाना, सिर पर घी डुबोया फाया रखना, सोने की शलाका से घी और मधु के साथ ओ३म् लिखना और बालक के कानों में **'त्वं वेदोऽसि'** कहना । इन समस्त प्रक्रियाओं का अपना अपना विशेष महत्त्व है और बच्चे के भावी जीवन पर इसका गहन प्रभाव पड़ता है । इस संस्कार के माध्यम से बालक में आध्यात्मिकता का बीज भी बोया जाता है तथा उसके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास को बल मिलता है । इससे अगले संस्कार का नाम-नामकरण संस्कार है । यह संस्कार बालक के जन्म के ग्यारहवें या एक सौ एकवें दिन

होता है । जिसमें बालक का कोई सुन्दर और सार्थक नाम रखा जाता है । बालक के चार महीने पूरे हो जाने पर उसे प्रथम बार घर से बाहर निकाला जाता है तथा इसे निष्क्रमण संस्कार कहते हैं । छठे महीने बालक को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है तथा इस संस्कार को अन्नप्राशन संस्कार कहते हैं । एक वर्ष पूरा हो जाने पर या तीसरे वर्ष बच्चे के बाल प्रथम बार उतारे जाते हैं तथा इस संस्कार को चूडाकर्म संस्कार कहते हैं । और तीसरे अथवा पांचवें वर्ष कर्णवेध संस्कार किया जाता है । इन सब संस्कारों का अपना अपना विशेष महत्त्व है । चार महीने से पूर्व बच्चे को बाहर की हवा से बचाना चाहिए । छठे महीने से पहले उसे अन्न नहीं खिलाना चाहिये क्योंकि उस समय तक उसमें अन्न पचाने की शक्ति नहीं होती है । चूडाकर्म द्वारा बच्चे के मलिन बालों को उतार दिया जाता है जिससे नये और सुन्दर बाल पैदा होते हैं । इसके साथ-साथ सिर भारी रहने से भी बच्चे की रक्षा होती है तथा सिर की खुजली एवं दाद आदि से उसकी रक्षा होती है । कर्णवेध से हर्निया आदि रोगों से

बालक की रक्षा होती है तथा स्वर्ण के आभूषण आदि डालने के लिए भी कानों को वेधा जाता है ।

इसके बाद बालक का उपनयन संस्कार कराया जाता है । बच्चों के निर्माण के लिए गुरुकुल में प्रवेश दिलाया जाता है । यह एक ऐसी परम्परा थी जिससे बालक का चतुर्दिक् विकास होता था तथा यह भी सुनिश्चित हो जाता था कि वह किस वर्ण के योग्य है। अमीर गरीब, सभी बच्चों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान किए जाते थे । ब्राह्मण के बालक को आठवें वर्ष, क्षत्रिय के बालक को ग्यारहवें, वैश्य के बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत दिया जाता था । यज्ञोपवीत एक ऐसा पवित्र चिह्न होता है जिसके धारण कराने पर बच्चे को ऋषिऋण, पितृऋण, और देवऋण से उऋण होने की प्रेरणा दी जाती थी । इस उपनयन संस्कार वाले दिन ही बालक को यज्ञोपवीत दिया जाता था और उससे अगले दिन ही उसका वेदारम्भ संस्कार होता था । और उसे गुरुकुल में प्रवेश दिलाया जाता था । आज स्थिति क्या है यह चिन्तनीय विषय है क्योंकि आज जापान में तो वेद की शिक्षा अनिवार्य

कर दी गई है मगर हमारे यहां तो जैसे वेद या वैदिक धर्म की बात करना भी अपराध जैसा समझा जाता है। गुरुकुल में वैदिक शिक्षा ग्रहण करके बालक का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास होता था और इस पूर्ण मानव बने हुए युवक को समावर्तन संस्कार के रूप में विदाई दी जाती थी और उससे आचार्य कहा करते थे कि बेटा अब समूचे जीवन में सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना और स्वाध्याय तथा उसके आगे प्रवचन करने में कभी भी प्रमाद मत करना ।

संस्कारों के इस क्रम में 'विवाह संस्कार' तेरहवां संस्कार है । गुरुकुल में समस्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विवाह संस्कार की समस्त प्रक्रियाएं भी गृहस्थ को स्वर्ग बनाने से सम्बन्धित हैं । गृहस्थ के दायित्वों से निवृत्त होकर तथा पुत्र का भी पुत्र हो जाने पर उसे समाज और देशसेवा के लिए घर से निकल जाना चाहिए । गृहस्थ में रहकर व्यक्ति सब प्रकार की एषणाओं में डूबकर इस अनुभव से निकल जाता है कि

इन एषणाओं का कहीं अन्त नहीं है, इसलिए वह परमार्थ की ओर अपने जीवन को चलाने के लिए पचास वर्ष की आयु में गृह-त्याग कर परोपकार के कार्यों में स्वयं को लगा लेता था । इसी को वानप्रस्थ संस्कार कहते हैं । वानप्रस्थी होने के बाद परोपकार आदि के कार्यों को करता हुआ जब व्यक्ति पूर्णरूप से निष्काम भावना से परिपूर्ण हो जाए तो वह मन, वचन, कर्म से परमात्मा के प्रति समर्पित होकर मोक्ष की कामना लेकर संन्यासी बन जाता है । यही संन्यास संस्कार है । व्यक्ति का अन्तिम और सोलहवां संस्कार है—अन्त्येष्टि संस्कार । यह संस्कार व्यक्ति के मरने पर होता है । अर्थात् उसकी देह को अग्नि में जला दिया जाता है तथा आत्मा अपने कर्मानुसार गति को प्राप्त हो जाता है । इस संस्कार के बाद शरीर के लिए और कोई संस्कार नहीं रहता है । मरने के बाद व्यक्ति के शरीर को जलाना चाहिए जिससे पांच भूत सहजता से विलीन हो जाएं । ये सोलह संस्कार व्यक्ति के जीवन की पूर्णता के लिए अनिवार्य बताए गए हैं । वास्तव में सोलहवें संस्कार से पूर्व के संस्कारों के माध्यम से

व्यक्ति के चरम विकास का मार्ग प्रशस्त किया गय है । और हमारे ऋषियों की यह एक अद्भुत दे है । संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति जीवन में औ मरने के बाद भी पूर्णता प्राप्त कर सकता है । महि दयानन्द जी की आर्य अर्थात् श्रेष्ठ मानव बनाने क यही योजना है तथा इसका कार्यान्वयन ही आ मानवता के लिए सञ्जीवनी सिद्ध हो सकता है ।

□□□

ाय
दे
औ
ही
कं
ाउ
।

□

आचार्य भगवान्देव 'चैतन्य'

- वैदिक प्रवक्ता के रूप में अनेक राज्यों के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में मानव मूल्यों की स्थापना हेतु कई वर्षों से निरन्तर संलग्न।
- आर्य प्रतिनिधि सभा, हिमाचल प्रदेश की पत्रिका 'आर्यवन्दना' का चौदह वर्षों से सम्पादन, अनेक पत्रिकाओं में सम्पादन सहयोग, हजारों रचनाओं का विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशन।
- विभिन्न सामाजिक एवं प्रशासनिक संस्थाओं के पदों से जुड़कर उल्लेखनीय कार्य।
- हिन्दी भाषा, संस्कृति एवं वैदिक धर्म प्रचार हेतु अनेकों पुरस्कारों से पुरस्कृत।

मनुष्यता के आठ सूत्र

जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए अपने भीतर दिव्य गुणों का सृजन करने की आवश्यकता है। इस लघु पुस्तिका में लेखक ने महर्षि दयानन्द सरस्वती जी द्वारा बताये गये कुछ ऐसे ही सूत्रों की चर्चा की है, जिन्हें जीवन में कार्यान्वित करने से व्यक्ति सही अर्थों में मानव कहलाने के योग्य बन सकेगा, तथा मानव जीवन के समस्त लक्ष्यों को भी प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा।